साहित्य की पृष्ठभूमि

(साहित्य के विविध अङ्गों का शास्त्रीय विवेचन)

लेखक :

कृष्णकुमार कौशिक

प्रथमबार १०००] १ जनवरी १९५० [मूल्य २) रु०

प्रकाशक
नागरी निकेतन,
देहरादून

प्रमुख विक्रेता
सरस्वती निकेतन
पीपल मण्डी, देहरादून।

मुद्रक :
सुमेध कुमार
भास्कर प्रेस, देहरादून

अपनी बात

मैने एम० ए० तथा साहित्यरत्न के परीक्षार्थियों को गतवर्ष साहित्य के विभिन्न अंगों पर कुछ नोट लिखवाये थे, उन्हीं का यह संकलन 'साहित्य की पृष्भूमि' आपके कर कमलों में है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय है केवल मेरे मित्र मुन्शी ललिताप्रसाद जी को। वे यदि इसे प्रकाश में लाने के लिये आग्रह न करते तो यह पुस्तक प्रकाशित ही न होती।

मैंने जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है, वह केवल साहित्य-मन्दिर में प्रविष्ट होने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों के लिए ही लिखा है। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को यथेष्ट लाभ होगा।

श्रद्धेय पण्डित ब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा एम० ए०, एल-एल० बी० तथा आदरणीय आचार्य पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल एम० ए० ने समय समय पर अपने अमूल्य परामर्श देकर जो मेरी सहायता की, उसके लिए धन्यवाद देकर मैं उनके गुरुत्व को हलका नहीं करना चाहता।

भास्कर प्रेस के अध्यक्ष श्री सुमेधकुमार गुप्त ने मुद्रण के कार्य में यथेष्ट सुविधाएं देकर मेरी बहुत सहायता की, अतः वे धन्यवाद के पात्र है।

मेरे प्रिय विद्यार्थी कुन्जबिहारी शर्मा ने भी इस पुस्तक की प्रेस कापी तय्यार करने में मेरा हाथ बंटाया, उसे उसके इस कर्तव्य पालन के लिये मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूं।

दर्शनीदर्वाजा
देहरादून,

दो शब्द

यह जगत् आत्म और अनात्म का-पुरुष और प्रकृति का मिश्रित रूप है। दोनों मे अन्योन्याश्रय सबध है। चिंतन और भावना आत्म या चेतन सत्ता की क्रिया है, परन्तु चिंतन और भावना के विषय आत्म और अनात्म-चेतन और जड़-दोनों ही होते और हो सकते हैं। अतः साहित्य में जो अभिव्यक्ति होती है, उसमें उक्त दोनों पक्षों का सन्निवेश होता है। उसे साहित्य इस कारण कहते हैं कि वह आत्म और अनात्म-दोनों के सहित होती है। इस अभिव्यक्ति की समष्टि को इसलिए भी साहित्य कहते हैं कि इसमें अखिल विश्वकी ज्ञान-सपदा सन्निहित है। यहाँ तक कि चौंसठ कलाए भी इसी की सीमा में आ जाती हैं। साथ ही इसे इस कारण भी साहित्य कहते हैं कि इसमें वे समस्त गद्य-पद्यमयी कृतियां समाविष्ट है, जिनमें सार्वजनीन हित-सबंधी स्थायी विचार सुरक्षित रहते है, क्योंकि साहित्य शब्द की व्युत्पत्तियों भी बताई गई हैं—हितेन सहितः सहितं; सहितस्यभावः साहित्यम्। इन बातों के विचार से साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक ठहरता है।

इस साहित्य के दो रूप हो गए हैं—एक को वैज्ञानिक साहित्य और दूसरे को विधायक साहित्य कहते हैं। सामान्यतः एक विज्ञान कहलाता है और दूसरा साहित्य। पहला तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि का विशेष सहारा लेकर उपस्थित होता है और दूसरा प्रधानतः भावना और कल्पना की सृष्टि से बनता है। विज्ञान मानव के मस्तिष्क में प्रवेश करता है और साहित्य उसके मनोविकार को तरंगित करता है। एक का प्रधान क्षेत्र बुद्धितत्व है और दूसरे का रागात्मक तत्व।

जीवन के लिये दोनों ही बहुत उपयोगी है। हैं भी ये एक दूसरे के पूरक से। परन्तु साहित्य की—विधायक साहित्य की—

उपादेयता निस्संदिग्ध रूप से बहुत बढ़ी हुई है। मानव बहुत कुछ इसी की बदौलत मानव बन पाया है। इसी ने उसे आत्मकेंद्रित होकर जड़ हो जाने से बचाए रखा है। मनुष्य की भावात्मक सत्ता को जगा जगा कर जगत के सभी पदार्थों एवं व्यापारों के साथ उसके सामंजस्य-स्थापन का महत्वमय कार्य यही करता आया है। समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की स्थापना कर, इसी ने उसके जीवन की व्यक्ति को और उस जीवन की मात्रा को इतना बढ़ा दिया है। मनुष्य के जिस आवेष्टन (Environmet) को विज्ञान ने दाबने और शासित करने का प्रयत्न किया है, साहित्य ने उसे आत्मसात् कर लिया है, उसे जीवन का ही अंग बना लिया है। प्रत्यक्ष जगत हमारे लिये बहुत सीमित है, क्योंकि एक समय में हम उसका एक अंश ही देख पाते हैं। खण्ड को देखकर पूर्ण को देखने की—अंश को देखकर अंशी को देखने की—जो लालसा हमारे हृदय में उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति साहित्य ही करता है, क्योंकि वह भावना और कल्पना से जगत का वह रूप भी प्रस्तुत करता है, जो अगोचर बना रहता है। साहित्य केवल उसी सत्य को प्रस्तुत करके नहीं रह जाता, जो है; वह उस सत्य का भी प्रत्यक्षी करण करता है, जो हो सकता है। इस प्रकार साहित्य सदा से एक बहुत व्यापक जगत का आभास देता आया है। वह हमें उन मनीषियों के निकटतम संपर्क में लाता रहा है, जिन्होंने वास्तविक अर्थों में आत्म-दर्शन किया और कराया है। साहित्य की ही पावन गोद में पहुँच कर हम उन भाव-योगियों के चमत्कार देखते हैं, जो हमें रसदशा में लाते और शुद्ध अनुभूतिमय बनाते हैं।

साहित्य की उन्नति के साथ साथ समाज की उन्नति और समाज की उन्नति के साथ साहित्य की उन्नति होती गई है।

रुचि-विभेद और रुचि-वैचित्र्य उन्नत समाज के लक्षणों में हैं। साहित्य के विकास-क्रम में समाज का यह रुचि-विभेद और रुचि-वैचित्र्य अधिकाधिक स्पष्टता के साथ लक्षित होता जाता है। इसी का यह परिणाम है कि आज साहित्य में अभिव्यक्ति अनेक रूपों—जैसे कविता, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कहानी आदि--में प्रस्तुत हो रही है। जीवन की बढ़ती हुई जटिलता और रुचि-विभेद के साथ साहित्य की यह बहुरूपता और भी बढ़ती जायगी, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं है।

छात्रों के लिये साहित्य आज एक गहन वनस्थली है। वे इसमें प्रवेश कर इसका आनन्द तो लेना चाहते हैं, परन्तु यह नहीं समझ पाते कि किधर से और कैसे इस दुर्गम जगत में घुसे। वे पढ़ते तो हैं सभी प्रकार का साहित्य; परन्तु साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों के टेकनीकों का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण वे अध्ययन से पूर्णतया लाभान्वित नहीं हो पाते। विद्यार्थियों की इन कठिनाइयों को दूर करने के जो प्रयास हुए और हो रहे हैं, उन्हीं में पण्डित कृष्णकुमार जी कौशिक की यह "साहित्य की पृष्ठभूमि" भी है। कौशिक जी हिन्दी-साहित्य के अध्ययन और अध्यापन के कार्य में बड़ी तत्परता के साथ इधर बीसों वर्ष से जुटे हुए हैं। अतः उन्हें विद्यार्थियों की साहित्याध्ययन—सम्बन्धी उन कठिनाइयों का वास्तविक ज्ञान है, जिनको विशेष रूप से दृष्टि पथ में रखकर यह पुस्तक तैयार की गई है। मुझे विश्वास है कि यह कृति विद्यार्थियों के लिये विशेष उपादेय प्रमाणित होगी और साहित्य के प्रौढ़ अध्येता भी इससे लाभान्वित ही होंगे।

गयाप्रसाद शुक्ल
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
डी० ए० वी० कालेज, देहरादून,

१ दिसम्बर, १६४६ ई०

विषयानुक्रमणिका

साहित्य की पृष्ठभूमि

कला का आदर्श

कला मनुष्य की प्रकृति पर सब से बड़ी विजय है। जैसे-जैसे मनुष्य जंगलीपन को छोड़ कर सभ्य और संस्कृत होता गया, वैसे-वैसे उसकी रुचि भी कला की ओर बढ़ती गयी। परमात्मा की सृष्टि में दखल देकर ही वह कलाकार बना। उसने पत्थरों को तराश कर देवताओं का निर्माण किया, तथा नीले-पीले रंगों से एक नयी दुनियाँ रच डाली और दुनियाँ भी ऐसी कि जिसमें केवल सौन्दर्य था, असुन्दर नाम को भी नहीं था। कला ने ही मनुष्य को सृष्टिकर्ता ईश्वर के समीप लाकर बैठा दिया। कला ने ही उससे स्वर्ग की कल्पना करायी। उस सौन्दर्य को जिसे वह इस संसार में न पा सका, उसने स्वर्ग की अप्सराओं मे पा लिया।

कला का विकास

अन्तःकरण की उन सूक्ष्म भावनाओं को जिन्हें हम साधारणतः व्यक्त नहीं कर सकते दृश्य जगत में ले आने का नाम ही कला है।

कला की परिभाषा

प्रकृति के नयनाभिराम चित्रों को देखकर हमारे हृदय-सागर में आनन्द की जो तरंगें उठती हैं उन्हें दूसरों के सामने सुन्दरता से व्यक्त करने वाला साधक ही श्रेष्ठ कलाकार कहा जा सकता है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो अनन्तकाल से विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ जीवन की दौड़ में प्रतिक्षण आगे बढ़ता जा रहा है। इस दौड़ में जैसे-जैसे वह आगे बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी जानकारियां भी बढ़ती गयी। जैसे-जैसे उसकी जानकारियां बढ़ती गयी, वैसे-वैसे उसका इस विशाल विश्व से सम्बन्ध भी दृढ़तर होता गया। इस सम्बन्ध के दृढ़तर होने के साथ उसकी सभ्यता का विकास भी होता रहा। सभ्यता मानव जीवन में एक प्रकार की कृत्रिमता ले आयी। सभ्यता की इस देन के साथ साथ उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती गयी। इन आवश्यकताओं के द्वारा उसका बौद्धिक विकास भी होता रहा। इसी बौद्धिक विकास की कृपा से वह उचित, अनुचित सुन्दर तथा असुन्दर के प्रति अपनी भली-बुरी धारणाएँ भी बनाने लगा। आदिमयुग में ये धारणाएँ अविकसित अवस्था में थीं। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होने लगा, वैसे-वैसे उसकी धारणाएँ भी विकसित होती रहीं। जिस समाज अथवा जाति की यह वृत्तियाँ व्यापक तथा शक्तिशालिनी होती है, उस समाज अथवा जाति को उतना ही सभ्य समझा जाता है। वास्तव में कला मानव की इन्हीं धारणाओं की अभिव्यक्ति है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि सभ्य तथा सुसंस्कृत जातियों की श्रेणियों में वही जातियाँ आ सकती हैं, जिनकी कला उन्नति के उच्च शिखर पर पहुंच चुकी हो।

कला का महत्व

कला के द्वारा ही जातियों की सभ्यता तथा संस्कृति का ठीक ठीक परिचय मिलता है। इस सम्बन्ध मे महामुनि भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है:-

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः,
तद्भागधेयं परम पशूनाम् ॥

मनुष्य संसार की प्रत्येक वस्तु मे उपयोगिता देखना चाहता है, इसके साथ ही वह जो दूसरी बात देखना चाहता है, वह है सुन्दरता। इसीलिए भारतीय कला-कोविदों ने उच्च कोटि की कला उसी को माना है जिसमें उपयोगिता तथा सुन्दरता दोनों हों। फिर भी कुछ कलायें ऐसी हैं जिनमें उपयोगिता का अंश अधिक है और कुछ ऐसी हैं, जिनमें सुन्दरता का। ऐसी अवस्था में हम कला को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक उपयोगी कला, और दूसरी ललित कला। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला में उपयोगिता तथा सुन्दरता दोनों ही का होना आवश्यक है। इसीलिए भारतीय कला-कोविद कहते हैं कि उस सुन्दरता का कुछ मूल्य नहीं जिसमें उपयोगिता न हो। विश्व को 'तमसोमर्ज्योतिर्गमय" का उपदेश देने वाले भारत ने कला के विषय में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का आदर्श रखा है। योरप की की तरह Art for Art's Sake अर्थात् कला, कला के लिए है, का आदर्श भारतीयों के सामने कभी नहीं रहा।

कला का वर्गीकरण

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। इसीलिए वह वस्तु की उपयोगिता के साथ ही साथ सुन्दरता भी देखना चाहता है। जब हम बाजार में कपड़ा खरीदने जाते हैं, तब हम यही नहीं देखते कि कपड़ा

कितने दिन चलेगा, प्रत्युत यह भी देखते है कि वह कितना सुन्दर है। कुम्हार बर्तन बनाता है हमारे उपयोग के लिए, पर वह अपनी चित्रकारी द्वारा उसे सुन्दर भी बना देता है। मनुष्य की ऐसी सौन्दर्योपासना की भावना ने कला को जन्म दिया है।

ललित-कलाओं में काव्य का स्थान

विदेशी विद्वानों ने ललितकला (Fine Art) को पाँच भागों में विभक्त किया है—(१) स्थापत्य कला (२) मूर्तकला (३) चित्रकला (४) संगीतकला (५) काव्यकला। ये ललित कलाये हमे दो प्रकार से आनन्द प्राप्त करती है। स्थापत्य कला, मूर्तकला तथा चित्रकला नेत्रों द्वारा आनन्द प्रदान करती है संगीतकला कानों द्वारा। काव्यकला ही एक ऐसी कला है जो हमें दोनों प्रकार से आनन्द प्रदान करती है। जैसे दृश्य काव्य में कभी-कभी जब हम स्वयं काव्यानन्द प्राप्त करने लगते हैं तब वह न नेत्रो का विषय रह जाती है, और न कानो का। उस समय वह केवल अन्तर्जगत की वस्तु बन जाती है। इसीलिये कलाकोबिदों ने काव्य-कला को ही समस्त कलाओं मे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। कला के सर्वश्रेष्ट होने का मानदण्ड यही है कि उसमे हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण चारुता से किया जाता है।

किसी प्रासाद, मन्दिर, मस्जिद अथवा मकबरे को देखकर हम बता सकते है कि इसका निर्माण, किसने, कब और किन परिस्थितियों ने किया है? बजरी, ईंट, चूने तथा पत्थरों का समुचित प्रयोग करके कलाकारों ने ताज का निर्माण किया। इतना होने पर भी वह विरही शाहजहां की आत्मा के करुण संगीत की अभिव्यक्ति नहीं करा सका।

यह सत्य है कि मूर्तिकार के हाथों में पड़कर पत्थर भी मोम हो जाता है। कड़ी से कड़ी धातु भी अपनी कठोरता त्याग कर सुकुमारता धारण कर लेती है। वह अपने हथौड़े और छेनी की

सहायता से निर्जीव पत्थरों के टुकड़ों में भी जान डाल देता है। हम उसकी बनाई हुई प्रतिमाओं को देखकर कुछ काल के लिए मन्त्रमुग्ध से हो जाते हैं, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव हमारी आत्मा पर नहीं पड़ता।

चित्रकार के चित्र में दृश्य को प्रस्तुत करने की शक्ति तो होती है पर उसमें वह सजीवता कहां जो हम कवि की कविता में पाते हैं। हमारे सामने वह दृश्य को ज्यों का त्यों उठा कर रख सकता है पर अमूर्त्त को मूर्त्त रूप वह नहीं दे सकता। जिसे हम चर्म चक्षुओं द्वारा देख सकते हैं, उसे ही वह हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है। वह कल-कल तथा छल-छल करती हुई तरल तरंगिणी प्रवाह को चित्रित करके हम को मन्त्रमुग्ध कर सकता है, पर उसकी हिम शीतल धारा में हमें बहा नहीं सकता। कविवर शैक्सपियर ने इसीलिए काव्य-कला की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा है:—

"As imagination bodies forth,
The form of things unknow, the poet pen,
Turn them to shapes, and gives to airy nothings,
A local habitation and a name."

कवि की कल्पना छिपी हुई तथा अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है। उसकी लेखनी तुच्छ, नगण्य तथा अस्तित्वविहीन पदार्थों को मूर्त्त रूप देकर नाम और स्थान प्रदान करती है।

कई बार मार्ग की याचना करने पर भी समुद्र ने राम को मार्ग नहीं दिया। इस पर राम की भृकुटियाँ चढ़ गयीं। उनकी इस क्रोध-युक्त मुद्रा का चित्र चित्रकार बड़ी सुन्दरता तथा सुघरता के साथ प्रस्तुत कर सकता है, पर उसमें वह शक्ति कहाँ कि राम के मुख से कहला सके—

"विनय न मानत जलधि जड़,
गये दिवस बहु बीति।"

यह क्षमता तो केवल कवि मे ही है। वह अपने राम से 'विनय न मानत जलधि जड़ गए दिवस बहु बीति' कहलाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि 'बोले राम सकोप तब' की अभिव्यञ्जना कराने के लिए राम के मुख से "भयबिन होय न प्रीति" भी कहला सकता है। चित्रकार 'मेघदूत' के विरही यक्ष का चित्र चित्रित करके हमारा ध्यान आकर्षित कर सकता है, पर हमें उसके अश्रु-कणों में नहीं डुबा सकता। ऐसी अवस्था में यदि कोई अपनी नायिका के विषय में यह कह दे तो, इसमें अत्युक्ति ही क्या ?

लिखि न बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

संगीत के माधुर्य को कौन नहीं स्वीकार करेगा ? कौन ऐसा अभागा है जो उसकी मनमोहक तथा सुरीली तान को सुनकर मुग्ध नहीं होता। सर्प जैसा भयानक तथा हिंसक जन्तु भी जब संपेरे के वेणु-वादन को सुन कर उसकी स्वर-लहरी के साथ नाचने लगता है, फिर मानव की तो बात ही क्या। कदाचित् इसीलिए भगवान् ने नारद से कहा था:—

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः॥

भाषा-तत्वज्ञों का मत है कि सृष्टि के आदिम काल में मानव ने संगीत में ही तुतलाना सीखा था। संसार का जितना भी प्राचीनतम साहित्य हमें मिलता है, वह सब संगीतमय है। साहित्य और संगीत दोनों ही का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य का सौन्दर्य संगीतमय होने पर बढ़ता है और संगीत का सौन्दर्य साहित्यमय होने पर। इसी लिए

संगीत कला को काम सूत्रों की ६४ कलाओं में प्रथम स्थान दिया गया है।

संगीत केवल रंजनात्मक है। काव्य रंजनात्मक होने के साथ ही साथ रसात्मक भी है। काव्य में कलाकार युग का कुछ सन्देश भी देता है, पर संगीत में केवल नादमात्र की प्रधानता रहती है। स्वरों के आरोह तथा अवरोह पर ही संगीत का प्रासाद खड़ा है। स्वरों के आरोह-अवरोह से भले ही उस्ताद लोग आनन्द विभोर हो जाँय पर सर्वसाधारण पर उसका जादू नहीं चल सकता। जब संगीत काव्य मय होजाता है तो उसमें मुर्दे को भी जिलाने की शक्ति आजाती है। नादमात्र संगीत हो सकता है पर काव्य नहीं। काव्य के लिए संदेश का होना आवश्यक है। काव्य गेय है पर गान नहीं।

कलाकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। अपने समय की समस्त भावनाओं तथा विचारधाराओं को बड़ी सुन्दरता तथा सुघरता के साथ हमारे सामने रखता है। काव्य कला में यह विशेषता अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक है। शताब्दियां बीत जाने पर भी उसका प्रभाव नष्ट नहीं होता। नालन्द तथा तक्षशिला की स्थापत्य कला वसुन्धरा की उदर-दरी में समा गयी। मौर्य्य तथा गुप्तकाल की कितनी ही मंजुल मूर्त्तियाँ कराल काल की गाल में चली गयीं। अजन्ता के भित्ति चित्रों का रंग भी न जाने कब उड़ गया। तानसेन की तान भी हवा में मिल गयी पर कालिदास तथा भवभूति की विभूति अब भी सुरक्षित हैं और न जाने कब तक रहेंगी ?

कला की श्रेष्ठता उसके स्थायित्व पर ही निर्भर है। जिस कला में हृदय की भावनाएँ जितनी सूक्ष्मता के साथ व्यक्त की जाती हैं वह उतनी ही स्थायी होती हैं। काव्यकला में हृदय की सूक्ष्म

काव्य-कला का महत्व

भावनाओं को जितनी सुचारुता के साथ व्यक्त किया जाता है, उतनी सुचारुता से अन्य कलाओं में नहीं किया जाता। इसीलिए काव्यकला को समस्त कलाओं में उच्च स्थान दिया जाता है। मूर्तिकार हथौड़े तथा छेनी की सहायता से जिन भावनाओं का अङ्कन नहीं कर सकता तथा चित्रकार अपने रंग और तूलिका से जिन भावनाओं को चित्रित नहीं कर सकता उन्हें कुशल कवि रम्य रूप देकर हमारे सामने रखता है। चित्रकार तथा मूर्तिकार की पहुँच तो केवल दृश्य जगत् तक ही है, पर कवि अमूर्त्त को भी दृश्य जगत् की वस्तु बना देता है। नन्द के आँगन में माखन-रोटी खाते हुए नन्दनन्दन का चित्र कितना सुन्दर बन पड़ा है ? देखिए:-

"धूर भरे अति शोभित स्यामजू , तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरै अँगना पग, पैंजनियाँ कटि पीरक छोटी॥
वा छवि को 'रसखान' बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ ते लै गयो माखन रोटी॥"

काव्यकला में जो विशेषता है वह अन्य कलाओं में कहाँ? उसकी विशेषता है अमूर्त्त को मूर्त्त रूप देना। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर कलाकोविदों को यह सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा कि जिस कला में जितनी स्थूलता होगी वह कला उतनी ही निम्न कोटि की समझी जायगी। स्थापत्य कला को इसीलिए सब से निम्न स्थान दिया गया है, क्योंकि उसमें अन्य कलाओं की अपेक्षा मूर्त्ताधार अधिक है। मूर्त्तकला में मूर्त्ताधार अधिक तो है पर स्थापत्य कला की अपेक्षा कम है। चित्रकला में मूर्त्ताधार मूर्त्तकला की अपेक्षा कम है। इसीलिए चित्रकला का स्थान मूर्त्तकला के पश्चात् आता है। संगीत में मूर्त्ताधार बहुत कम होता है। इसीलिए संगीत का स्थान उपर्युक्त कलाओं के बाद आता है। काव्य-कला को इसीलिए सब के बाद स्थान दिया

गया है, क्योंकि उसमें मूर्तांधार नहीं के बराबर होता है। ललित कलाओं के उपर्युक्त वर्गीकरण में जो कलाएँ निम्नकोटि की है उन्हें प्रथम और जो उच्चकोटि की है उन्हें क्रमशः बाद में स्थान दिया गया है।

कला के रूप

प्रत्येक कला हमें दो रूपों में मिलती है—एक वह रूप जिसमें कला के निर्माण के नियम बताये जाते है और दूसरा वह जिसमें हम उन नियमों के आधार पर कला की सृष्टि करते है। इनमें पहिले रूप को सैद्धान्तिक रूप और दूसरे को प्रयोगात्यक रूप कहा जा सकता है। कला का प्रारम्भ उसके प्रयोगात्मक रूप से होता है। जब कला का पूर्ण विकास हो जाता है तो उसके नियम आदि भी बना लिये जाते हैं।

कला में युग का प्रतिनिधित्व

कहा जाताहै कि कला में युग बोलता है, अर्थात् किसी भी कलाकृति को देखकर यह बताया जा सकता है कि यह अमुक समय की कला-कृति है, न तो कला कृति अपने युग के प्रभाव से वंचित रह सकती है और न कोई कलाकार ही अपने को युग के प्रभाव से बचा सकता है। युग-परिवर्तन के साथ ही साथ कला भी नये सांचे में ढलती जाती है। यह सिद्धान्त कुछ अंशों तक नहीं बल्कि पूर्णतः ठीक है; पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम नये जमाने की नयी रोशनी में पुरातन को सर्वथा भुला बैठे और यह मान बैठे कि जो भी प्राचीन है वह त्याज्य है और जो नवीन है वही ग्राह्य है और ठीक है। नवीनता के पुजारियों का यह कथन पुरातन के प्रति अन्याय जान पड़ता है। वे नहीं जानते कि पुरातन ने ही अपने आप को खोकर नवीन का निर्माण किया है। वास्तव में कला की उत्कृष्टता

इसी में है कि वह कभी पुरानी न हो। इस सम्बन्ध मे हमारे प्राचीन आचार्यों का यह मत द्रष्टव्य है :—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

इसी भाव को कविवर मतिराम ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

"ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नयन।
त्यों त्यों खरी निकरै सि निकाई॥

युग बीत गये, बाल्मीकि और व्यास हमारे लिए वैसे ही है। कालिदास और भवभूति में भी अभी कोई पुरातनता नहीं आयी। कला का शरीर बदलता है, आत्मा नहीं। कला जाति विशेष की भावनाओं का प्रतीक होती है। ऐसी दशा में जब तक कोई जाति जीवित रहती है तब तक उसका अतीत मिटाया नहीं जा सकता।

जिस प्रकार पुराने रूढ़िवादी नवीन का विरोध करते हैं उसी प्रकार नवीनता के पुजारो भी प्राचीनता की जड़ें उखाड़ देना चाहते हैं। वे कहते है कि पुरानी कला कृतियां तो केवल म्यूजियमों में संग्रह करने की वस्तुएं है। बात-बात में प्राचीनता की जड़ उखाड़ने वाले सज्जन यह नहीं जानते कि कल उनका वर्तमान भी अतीत के गर्भ में विलीन हो जायगा। अतीत और वर्तमान शृंखला की पिछली अगली कड़ियाँ हैं। हम उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। पुरातन न तो सर्वथा त्याज्य है न ग्राह्य। युग के संघर्ष में जीर्ण तो स्वयं ही नष्ट हो जाता है। वाद विशेष का लेबिल लगा कर उसके विरुद्ध आन्दोलन करने की कोई आवश्यकता नहीं। भगवान-श्रीकृष्ण के :—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥"

वचनानुसार कला भी अपना पुराना शरीर ही बदलती है पर उसकी आत्मा वही रहती है ।

भारतीय कला का आदर्श

शान्ति और सुख के समय में ललित कलाओं की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच जाती है । धीरे-धीरे कला के नाम पर खुला व्यभिचार होने लगता है । जिस राष्ट्र में भी कला का नाम लेकर यह खुला व्यभिचार होता है उसको एक दिन पतन के गर्त में गिरना पड़ता है । यूनान, मिश्र तथा रोम के विशाल साम्राज्यों का नाश कला के नाम पर खुला व्यभिचार करने के कारण ही हुआ । नाच, रंग तथा शेरोसखुन की उपासना ने मुगल साम्राज्य की जड़ें हिला दीं ।

प्रोत्साहन कलाकारों के लिए ईश्वरीय बरदान से भी बढ़कर है । प्रोत्साहन शान्ति और सुख के ही समय में मिल सकता है । इसी लिए उन्नत और स्वतन्त्र राष्ट्र में ही कला की उन्नति होती है । परतन्त्र और पददलित राष्ट्रों में कला अपने महत्व को खो बैठती है क्योंकि वहाँ के कलाकारों का सारा जीवन तो शाशकों के अनुकरण करने में ही समाप्त हो जाता है, फिर बेचारी कला की उन्नति हो तो कैसे हो ? कानून ने जहां की जनता की आवाज गूंगी कर दी हो, परतन्त्रता ने जहां के कलाकारों की सारी भावुकता नष्ट कर दी हो वहां बेचारी कला अपना अस्तित्व कैसे रख सकती है ? पददलित और परतन्त्र राष्ट्रों की कला पर विजेताओं की छाप पड़ ही जाती है । लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपने को नहीं बचा सकती ।

आज हम स्वतन्त्र है, पर हमारा मस्तिष्क आज भी अंगरेजों का गुलाम है। हमारे लिए वही वेदवाक्य हो जाता है जो पाश्चात्य विद्वानों की जवान से निकलता है। यही कारण है कि आज हमारे सामने 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का पवित्र दृष्टिकोण नहीं रहा। पश्चिम का अन्धानुकरण करने वाले जरा ठण्डे दिमाग से विचार करें तो उन्हें मानना पड़ेगा कि जो कुछ हम कह रहे हैं वह सत्य है। वासनाओं को भड़काने वाली नग्नमूर्तियां हमारे भारत में नहीं बनीं। हमारे यहाँ जो देवताओं की मूर्तियां बनी है, उनका उद्देश्य केवल धार्मिक भावनाओं को सजग करना ही है। यही विशेषता हमारी काव्यकला, संगीतकला तथा चित्रकला में भी पायी जाती है। योरप की तरह हमारे यहां काव्य केवल मनोरंजन की वस्तु ही नहीं है। उससे धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान भी प्राप्त होता है; उससे कायरों को साहस, शोकातुरों को शान्त्वना, उद्विग्न चित्त वालों को शान्ति भी मिलती है। इसीलिए काव्य के सम्बन्ध में आर्य आचार्यों ने यह अनिवार्य सिद्धान्त बना दिया था।

'काव्य यशसेऽर्थ कृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परंनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे ॥"

यशप्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, दुःखनाश तथा सुखप्राप्ति के साथ-साथ काव्य का एक प्रयोजन और भी है, वह यह कि वह कान्ता के समान उपदेश देने वाला है, उसमें न तो शुष्क ब्रह्मज्ञानियों की नीरसता है और न गुरुजनों के दण्ड का भय। वह तो प्रिय-वादिनी कान्ता के कमनीय उपदेश के समान मधुर, सरस और हृदयग्राही है। इन सब गुणों के अतिरिक्त उसमें एक विशेषता यह है कि वह कवि अथवा कलाकार के साथ ही साथ उसे भी अमर कर देता है जिसे

वह अपनी कमनीय-कला का विषय बनाता है। महाकवि विल्हण ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है :—

महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे,
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न वभूवुरुर्व्यां,
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्॥



भाषा और साहित्य

विचारों तथा भावों के मूर्तरूप का नाम भाषा है। हम ही नहीं प्रत्युत समस्त देहधारी विचारों तथा भावों के इन्हीं मूर्त रूपों द्वारा एक दूसरे से परिचित होते हैं। चिड़ियाँ जब किसी बिल्ली को देखती हैं तो वह अपनी चूं-चूं से अपने हार्दिक भय को व्यक्त करती हैं। मयूरी बादलों को देखकर नृत्य द्वारा अपना हार्दिक आनन्द प्रकट करती है।

भाषा की परिभाषा

हम ध्वनिमात्र को भाषा नहीं कह सकते। भाषा तो केवल वही ध्वनि कहलायी जा सकती है जो सप्रयोजन हो। पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ, इसीलिए, भाषा की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। उन सब साधनों को भाषा कहा जा सकता है जिनके द्वारा हम अपने विचारों तथा भावों को दूसरों पर प्रकट करते हैं तथा दूसरो के भावों और विचारों से स्वय परिचित होते हैं। गूंगे तथा बहिरे संकेतों द्वारा अपने विचार दूसरों पर प्रकट करते हैं। किसी की लाल-लाल आँखें देख कर हम जान जाते हैं कि वह व्यक्ति क्रोध से भरा हुआ है। कुत्ता दुम हिलाकर अपने स्वामी के सामने अपनी प्रसन्नता प्रकट करता है। हम भी अपने विचार दूर रहने वाले व्यक्तियों के सामने लिपि के

व्यक्त संकेतों से प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए भाषा-तत्वज्ञों को यह सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा कि मुख से निकलने वाली ध्वनि ही भाषा भाषा नहीं है, प्रत्युत भावों तथा विचारों को व्यक्त करने के सभी संकेत भाषा हैं।

बोलने की शक्ति भगवान् ने सभी को प्रदान की है, घोड़े हिनहिनाते हैं, चिड़िया चहकती हैं, हाथी गरजते हैं, शेर दहाड़ते हैं, कुत्ते भौंकते हैं तथा कोयल कूकती है। पर उनकी इन ध्वनियों का कोई प्रयोजन नहीं होता। मनुष्य एक उन्नतिशील प्राणी है, वह प्रतिक्षण विघ्नबाधाओं से सङ्घर्ष करता हुआ कार्य क्षेत्र की ओर अग्रसर होता रहता है। उसकी भाषा उसके इसी सङ्घर्ष का परिणाम है। भाषा का वह रूप जो हम आज देख रहे हैं, मनुष्य की युगों की उस साधना और तपस्या का परिणाम है जो उसे निरन्तर अन्धकार से प्रकाश की ओर लेजा रही है। वाक् शक्ति मनुष्य को ईश्वर की ओर से मिली, पर उसने उसका विकास स्वयं किया है। वाक् शक्ति के विकास में ही उसकी प्रगतिशीलता का इतिहास छिपा हुआ है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक जो मानवीय विकास हुआ है, भाषा का उस इतिहास से गहरा सम्बन्ध है।

भाव का विकास

मनुष्य एक समाज-प्रिय प्राणी है। समाज में रह कर ही वह अनुकरण द्वारा उठना, बैठना, खाना तथा पीना सीखता है। वाक् शक्ति का विकास भी उसके इसी सामाजिक जीवन के साथ होता रहता है। इसीलिए जो मनुष्य समाज से जितनी दूर रहता है उसका शब्दभण्डार उतना ही कम होता है। यदि आप किसी नवजात शिशु को किसी हवादार कमरे में रखें, उसके खाने, पीने, खेलने के सभी

साधन वहाँ एकत्र करदें, इतना सब कुछ करने पर भी आप उसे अन्य पुरुषों से न मिलने दें, इतना सब कुछ करने पर भी आप उसे अन्य पुरुषों से न मिलने दें, जो उसे मिले भी वे उससे किसी प्रकार की बात-चीत न करें तो आप देखेंगे कि शिशु की अन्य शक्तियो का थोड़ा बहुत विकास तो अपने अन्य समवयस्कों के समान हो गया पर उसकी वाक् शक्ति का विकास उनके समान न हो सका।

कुछ पशुओं की ऐसी प्रकृति पायी गयी है कि वे बच्चों को अपनी माँद मे उठा लेजा लेते है तथा वहाँ उनका लालन-पालन भी करते है। किसी प्रकार जब ऐसे बच्चे वयस्क होने पर हमारे हाथ लग जाते है तो हम देखते है कि वे रहन सहन में हम से सर्वथा भिन्न है। हमारे सजातीय होते हुए भी वे उन्हीं जानवरों की बोलियां बोलते है। इसीलिए भाषा तत्वज्ञो को यह सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा कि वाक् शक्ति है तो ईश्वर की देन, पर उसका विकास हमारे सामाजिक जीवन पर ही निर्भर है। हमने अपनी अनुकरण शक्ति द्वारा समाज में रह कर वाक् शक्ति का विकास करके विचारों का आदान प्रदान करना सीखा है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा ही हम अपनी मातृभाषा से बोलना प्रारम्भ करते हैं।

नदी, पहाड़ों तथा जंगलों ने इस विशाल विश्व-परिवार को कई भागों में विभक्त कर रखा है। उन्होंने संसार के बीच एक ऐसी खाई बना दी है जिससे लोग एक दूसरे से परस्पर न मिल सकें। अब वैज्ञानिक यातायात के साधनों ने इस खाई को पाट दिया है। प्राचीन काल में जब यह साधन उपलब्ध नहीं थे तब लोग एक दूसरे से इस तरह मिल नहीं सकते थे। एक दूसरे से न मिल सकने के कारण विचारों को प्रकट करने के लिए भाषाका एक माध्यम न बन सका। यही कारण है कि

भाषा के विविध रूप

संसार में विभिन्न भाषाएं बोली जाने लगीं। इस सम्बन्ध में भिखारीदास ने ठीक ही कहा है :—

'देश भेद सों होत है, भाषा विविध प्रकार।'

दो विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। इसका प्रधान कारण विचारों का आदान-प्रदान है जो भाषाओं के द्वारा होता है। जब कोई जाति किसी दूसरी जाति को पराजित करके पादाक्रान्त करती है तो पराजित-जाति विजेता जाति के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। यह प्रभाव कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि पादाक्रान्त जातियों की भाषा कुछ दिनों में अपना चोला ही बदल देती है। दो पड़ोसी राष्ट्रों का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। उनके शब्द एक दूसरे की भाषा में इस प्रकार मिल जाते हैं जैसे दूध में पानी। ऐसे शब्दों का विश्लेषण कोई नीरक्षीर विवेकी भाषा-तत्वज्ञ ही कर सकता है। अंग्रेजी इसका अच्छा उदाहरण है। अंग्रेज जाति का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में संसार की सभी जातियों तथा राष्ट्रों से रहा है। इसीलिये उनकी भाषा में विभिन्न जातियों के शब्द नीरक्षीर के समान घुल-मिल गये हैं। जो शक्तिशाली भाषाएँ होती हैं वे दूसरी भाषाओं के शब्दों को इस प्रकार पचा लेती हैं कि कुछ दिनों में वे उन्हीं की सम्पत्ति हो जाते हैं।

भाषा-तत्वज्ञों ने भाषा की उपमा नदी से दी है। वास्तव में भाषा है भी नदी के समान ही। जिस प्रकार निर्झरिणी जब शैल-शिखरों से पृथ्वी पर गिरती है तो उसका कलेवर बहुत छोटा होता है, पर जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती जाती है, दूसरे नदी-नालों को अपने में मिलाती जाती है और फिर वह एक विशाल नद का रूप

धारण कर लेती है। इस प्रकार सागर मे लय होने तक वह छोटे-मोटे समुद्र के रूप मे परिणत हो जाती है। ठीक इसी प्रकार आरम्भ मे भाषा का कलेवर बहुत ही क्षीण होता है, पर जैसे-जैसे उसके बोलने वाले दुनिया की दौड में आगे बढ़ते जाते है, वैसे-वैसे उसका कलेवर भी विस्तृत होता जाता है। संसार मे अधिक काल तक जीवित रहने वाली भाषाओ की यही कसौटी है, कि वह दूसरी भाषाओ के शब्दों को अपने प्रबल प्रवाह में बहा ले जायं। नदी कभी एक प्रवाह में नही बहती, कहीं उसकी गति तीव्र हो जाती है कहीं धीमी, कहीं कुटिल तथा कही सरल। इसी प्रकार भाषा-रूपी सरिता भी अपनी कुटिल तथा सरल गति से प्रवाहित होती रहती है। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर यदि हम भाषाओं के क्रमिक विकास तथा इतिहास का अध्ययन करे तो हमें पता चलेगा किन-किन परिस्थितियों का सामना करके किसी भाषा को वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

यदि भाषाओं को लेकर वैज्ञानिक रीति से उनका अनुशीलन किया जाय तो उनके सम्बन्ध में हमें बहुत सी मनोरंजक बातें ज्ञात होंगी। भाषाओं के इस वैज्ञानिक अनुशीलन से हमे पता चलेगा कि आदिकाल में मनुष्य किस प्रकार सम्भाषण करता था तथा उसकी भाषा को वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ। खेद है कि हम इस दृष्टि से भाषाओं का अनुशीलन नहीं करते, पर इसमें हमारा दोष नहीं। दोष है हमारे उस स्वभाव का जिसके कारण हम कभी-कभी कह दिया करते हैं कि हमें तो आम खाने हैं, पेड़ थोड़े ही गिनने हैं। हम झरने का शीतल जल तो पीते हैं पर उसके स्रोत की छान-बीन नहीं करते।

विज्ञान की कृपा से आज विश्व-परिवार एक होता जा रहा

है। इसीलिए भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन भी आवश्यक हो गया है। इन्हीं परिस्थितियों ने **भाषा विज्ञान** को जन्म दिया है।

भाषा और साहित्य

साहित्य भाषा का ही परिष्कृत रूप है। साहित्य भाषा-रूपी कली का वह पुष्प है, जो विकसित होकर उसकी सुगन्ध को सारे संसार में प्रसारित कर देता है। साहित्य भाषारूपी नदी से बने हुए उस सरोवर के समान है जो कृत्रिम होते हुए भी सुन्दर है, जिसके दर्पण के समान स्वच्छ तथा निर्मल जल में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। उसे हम किसी देश अथवा समाज की वह रक्षित वाणी कह सकते है जो उसके अतीत का सम्बन्ध उसके वर्तमान से जोड़ती है। दो शब्द हम कह सकते है कि साहित्य एक ऐसी कड़ी है जो किसी जाति के वर्तमान का सम्बन्ध उसके अतीत की शृंखला से जोड़े रखती है और भावी पीढ़ियो को भी उस शृंखला की कड़ियो मे अलग नहीं होने देती। साहित्य जातियों के अन्ध विश्वासों, जादू टोने तथा भूत-प्रेतों की मनघड़न्त कहानियों से लेकर उनकी सभ्यावस्था तक का विस्तृत लेखा है। वह ऐसी अमूल्य निधि है जिसे मानव-जाति ने आदिम युग से लेकर अब तक विचारों, अनुभवों तथा ज्ञान से परिपूर्ण किया है और आगे भी करती रहेगी। पशु-पक्षी अपनी ध्वनियों द्वारा भाव प्रकाशन ही कर सकते हैं, विचार-विनिमय नहीं। इसीलिए मनुष्य की ही बोली को भाषा का गौरव पूर्ण पद प्राप्त हो सका है। विचार-विनिमय की क्षमता रखने ही के कारण मनुष्य की भाषा में साहित्य का निर्माण हुआ। जिस जिस भाषा मे विचार-विनिमय करने की जितनी अधिक क्षमता है तथा उसके विचारों का कोश जितना विस्तृत है उसका साहित्य उतना ही सम्पन्न है। जिस जाति का साहित्य जितना सर्वांग-पूर्ण

है वह जाति उतनी ही सभ्य तथा सुसंस्कृत है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्य समीक्षक हडसन अपनी पुस्तक The Study of Literature में साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए इस प्रकार कहते हैं :—

"As behind every book that is written lies the personality of the man who wrote it, and as behind every national literature lies the character of the race, which produced it, so behind the literature of any period lie the combined forces—personal and impersonal which made the life of that period, as a whole, what it was. Literature is only one of the many channels in which the energy of an age discharges itself; in its political movements, religious, thoughts, philosophical speculation art, we have the same energy overflowing into other forms of expression."

अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक ग्रन्थ में उसके रचियता और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्य में उसको उत्पन्न करने वाली जाति का व्यक्तित्व निहित होता है, उसीप्रकार काल विशेष के साहित्य मे उस काल के जीवन को सजीवता प्रदान करने वाली व्यक्तिमूलक तथा अव्यक्तिमूलक समस्त शक्तियाँ काम करती रहती है। साहित्य उन उन अनेक साधनों में से एक है जिनमें कालविशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति राजनीतिक आन्दोलनों, धार्मिक विचार, दार्शनिक तर्क-वितर्क और कला मे प्रत्यक्ष होती है।

साहित्य को सुरक्षित रखने में पुस्तकों को ईश्वर का वरदान समझना चाहिए। पुस्तकों द्वारा ही हमारे पूर्वजों का अनन्त ज्ञान

साहित्य रक्षा में पुस्तकों का स्थान

सुरक्षित रह सका है। यदि पुस्तकें न होतीं तो हम व्यास तथा कालिदास की सुमधुर रचनाओं का रसास्वादन कैसे करते ? राम तथा कृष्ण की गौरवगाथा का गान करके अपने जीवन को कैसे धन्य बनाते ? ऐसी दशा में यदि कोई विद्वान् साहित्य को "ज्ञान-राशि का संचित कोष" कहें तो मैं उन पुस्तकों को उस कोष की कुञ्जियां कहूंगा।

पुस्तकें उस गुरु के समान हैं जो बिना लिये-दिये हमें अपना सारा ज्ञान दे देता है। पुस्तक लेखक किसी देश अथवा जाति विशेष के नहीं होते। कालिदास तथा भवभूति का ज्ञान-भण्डार जिस प्रकार हमारे लिए खुला है, उसी प्रकार वह योरप, अमरिका आदि देशों के लिए भी खुला है। शेक्सपियर के नाटक केवल अंग्रेज जाति को ही आनन्द विभोर नहीं करते, प्रत्युत हम भारतवासियों को भी आह्लादित करते हैं।

अपनी इस ग्रन्थ-राशि द्वारा ही साहित्य नवीन का निर्माण करने के साथ-साथ प्राचीन की रक्षा में योग देता है तथा अगली पीढ़ियों तक पुरातन का सन्देश पहुँचा देता है। इस वैज्ञानिक चमक-दमक को देखकर आज मानव अपने हृदय को खो बैठा है। इसीलिए आज जिस साहित्य का निर्माण हो रहा है उसमें कोरा बुद्धिवाद ही रह गया है। यह कोरा बुद्धिवाद साहित्य के लिए घातक है। यही कारण है कि आज का साहित्यकार अपने सच्चे स्वरूप को खो बैठा है। अब वह केवल वाद विशेष का प्रचारक अथवा उपदेशक ही रह गया है।

योरप के एक प्रसिद्ध साहित्यकार के विषय में कहा जाता है कि वह जब एक व्यापारी से कुछ खरीद रहा था तो बातचीत के

विज्ञान और कविता में सामञ्जस्य

सिलसिले में उसने साहित्य-चर्चा छेड़ दी। यह साहित्य-चर्चा उस दुकानदार को अप्रिय जान पड़ी। इसलिए उसने कहा—क्षमा कीजिए, मैं इस विषय से कोसों दूर हूँ। हाँ! मेरी श्रीमती जी इस विषय में आपसे घण्टों वार्तालाप कर सकती हैं। सच है, आज वैज्ञानिक आविष्कारों की चमक-दमक ने मानव जीवन को सङ्घर्षमय बना कर उसे सच्ची शान्ति से कोसों दूर फेंक दिया है। यही कारण है कि आज साहित्य की चर्चा करना बेसुरा राग अलापना कहा जाता है।

तो क्या विज्ञान साहित्य के लिए घातक है? कभी-कभी यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। इस प्रश्न पर जब हम ठण्डे दिमाग से विचार करते हैं तो पता चलता है कि ऐसा सोचना हमारी भूल है। विज्ञान और कविता एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। एक ही प्रश्न पर विचार करने के दो अलग-अलग ढंग हैं, दोनों की दिशाएँ भले ही भिन्न हों पर मंजिल एक ही है। विज्ञान मस्तिष्क है, तो कविता हृदय। विज्ञान चिन्तन है, तो कविता भावना। विज्ञान कार्य है, तो कविता कारण। दोनों के बीच में विभाजक रेखा खींचनी असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

आदिम युग से अब तक मानव ने जो उन्नति की है उसका श्रेय केवल विज्ञान को ही है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक मानव ने सौन्दर्य्य की जो सृष्टि की है उसका श्रेय केवल कविता को दिया जा सकता है। कविता ने मानव को मानसिक भोजन दिया है और विज्ञान ने बौद्धिक खाद्य। विज्ञान ने मनुष्य की सांसारिक आवश्यकताएँ पूरी की हैं, तो साहित्य ने उसे आत्मिक शान्ति प्रदान की है।

इतना होते हुए भी साहित्य में कुछ विशेषताएँ है जिनके कारण उसका स्थान विज्ञान से ऊँचा हो जाता है। वह है साहित्य का लोक-कल्याणकारी होने के साथ ही साथ लोक-रंजक होना। विज्ञान केवल लोक का कल्याण करने वाला है लोक-रंजक नहीं। साहित्य सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का समन्वय करता है, विज्ञान केवल सत्यम् शिवम् का सृष्टा है। साहित्य में हृदयपक्ष प्रधान है और बुद्धिपक्ष गौण। विज्ञान में कोरा बुद्धिपक्ष ही प्रधान है।

विज्ञान की यह चमक-दमक देखकर आज कुछ लोग विज्ञान को ही सब कुछ समझ बैठे हैं। इसीलिए आज के मानव में कोरा बुद्धिपक्ष ही रह गया है। इस कोरे बुद्धिवाद ने मानव मे उसकी शान्ति छीन ली है। यह ठीक है कि उसने कल की कृपा से से कल अधिक उन्नति करली है। समुद्र की छाती चीरकर इस पार से उस पार जाने वाले जहाजों ने आज विश्व-परिवार को एक कर दिया है, आकाश में हवा से बातें करने वाले विमान स्वर्ग को धरा-धाम पर ला चुके हैं। बेतार के तार ने महाभारत के सञ्जय की कल्पना को सच कर दिखाया है। आज का बुद्धिवाद इसी को सभ्यता कहता है।

सभ्यता और साहित्य

तो क्या सभ्यता यही है, यदि कोई इसी को सभ्यता समझता है तो मैं कहूँगा वह भूलता है। सभ्यता है मानव का मानव के प्रति आचरण। यदि हम अपने आचरण द्वारा मानव के लिए अभिशाप नहीं बनते तो हम अपने को सभ्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं। आज एक दूसरे के रक्त से भगवती वसुन्धरा को रक्त-रंजित करने वाला मानव विज्ञान की इस चमक-दमक को ही सभ्यता मान बैठा है। इसीलिए वह दुःखी है।

ऐसी दशा में हम सभ्यता को साहित्य के लिए अभिशाप नहीं

कह सकते। यदि लाग केवल आज की चमक-दमक को ही सभ्यता बताकर मनमानी करने लगें तो इसमें लोगों का दोष है। साहित्य के लिए कोरा बुद्धिवाद बाधक हो सकता है, सभ्यता और विज्ञान नहीं।

यदि मानव का मानव के प्रति सुन्दरतम् आचरण ही सभ्यता है तो सभ्यता को साहित्य के लिए घातक नहीं कहा जा सकता।

सभ्यता को गलत समझ कर तथा उसकी गलत व्याख्या करके हम इस वैज्ञानिक चमक-दमक को ही सब कुछ समझ बैठे है। यही कारण है कि आज सभ्यता को साहित्य के लिए अभिशाप कहा जाने लगा है। सभ्यता का उद्देश्य यदि सच्चे शब्दो में मानव को मानव बनाना है तो हम सभ्यता को साहित्य के लिए ईश्वर का बरदान ही कहेंगे।

आज भोगवादी पश्चिम के पद्चिन्हों पर चलकर ही हम सभ्यता को अभिशाप समझने लगे है। भोगवादी पश्चिम आज अपनी गलती पर खुद पछता रहा है। मै बुद्धिवाद को बुरा नहीं कहता। पर उस बुद्धिवाद को अवश्य बुरा कहता हूँ जिसमें हृदय का सर्वथा अभाव हो। जिस प्रकार कोरे बुद्धिवाद ने अविश्वास को बढ़ाकर मानव की सच्ची शान्ति को छीन लिया है उसी प्रकार कोरी भावना ने मानव को अन्धविश्वासी बनाकर उसे कहीं का न रखा। मैं समझता हूं पश्चिम और पूर्व की सभ्यता में यही अन्तर है, ऐसी दशा में भला इसी मे है कि पूर्व पश्चिम को कुछ दे और पश्चिम पूर्व को। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम जीवन के उस सौन्दर्य को प्राप्त कर लेंगे जिसे खोकर हम सभ्यता को अभिशाप समझने लगे हैं।

सभ्यता न कोरी भावना है न कोरा बुद्धिवाद, बल्कि दोनों का समन्वय है। कोरी भावना के पीछे हम साँपों को दूध पिलाने लगे और कोरे बुद्धिवाद के पीछे योरप मानव से दानव बना। ऐसी

अवस्था में बेचारी सभ्यता सुन्दरी के लिए संसार में स्थान ही कहाँ है जो साहित्य के लिए उसे अभिशाप कहा जाय।

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं दुनिया को हजारों वर्ष पीछे ढकेलना चाहता हूं अथवा शहरों को उजाड़ कर जंगल बसाना चाहता हूं।* मैं इस वैज्ञानिक चमक-दमक को ही सब कुछ नहीं मानता। इसके अतिरिक्त मैं कुछ और भी चाहता हूँ—वह है आत्मिक शान्ति। यदि इस आत्मिक शान्ति के खो देने को ही आप सभ्यता कहते हैं तो मैं सभ्यता को साहित्य के लिए अभिशाप मानने को तैयार हूँ।

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य के पास वह आत्मिक शान्ति है, जिसका विज्ञान और वैज्ञानिकों के पास अभाव है। साहित्य मानव को सच्ची आत्मिक शान्ति देकर उसे सच्चे शब्दों में सभ्य और सुसंस्कृत बनाना चाहता है।

समझ में नहीं आता एक ओर तो लोग कहते हैं कि जिस जाति का साहित्य जितना महान् है वह उतनी ही सभ्य और सुसंस्कृत होती है, दूसरी ओर कहते हैं कि सभ्यता साहित्य के लिए अभिशाप है। यह दोनों विरोधी बातें कैसी?

---

* कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अब भी कहते हैं:—

उजाड़ेंगे शहरों को जंगल बसा कर।
दिखायेंगे दुनियाँ पुरानी बना कर॥



साहित्य में मौलिकता

अनन्तकाल से साहित्यकार अपनी सुख दुःख की कहानी दूसरों को सुनाते चले आ रहे हैं। प्राचीन साहित्य-निर्माताओं ने अगली पीढ़ियों के लेखकों तथा कवियों के लिए कोई ऐसी बात छोड़ी ही नहीं, जिसके विषय में वह कुछ कह न गये हों। किसी उर्दू कवि ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है :—

एक कठिनता

शाइरे नौ क्या कोई मजमून लिखेंगे असीर।
ढूंडते हैं अब तखल्लुस भी नया मिलता नहीं।।

वास्तव में कोई नयी बात संसार में है ही नहीं। वही गिनी-चुनी जानी-पहचानी पुरानी बातें हैं जिन्हें अपनी प्रतिभा के प्रभाव से कविगण नया रूप देकर वर्णन करते चले आ रहे हैं। इन्हीं गिनी-चुनी जानी-पहचानी तथा पुरानी बातों के नये ढंग तथा नये रंग से कह देने का नाम ही मौलिकता है। सर्व साधारण मौलिकता का अर्थ जिस नयी सूझ से

मौलिकता क्या है?

करते है वह केवल विज्ञान ही में मिल सकती है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विज्ञान भी तो विश्वपरिवार के मानवों के उस सम्मिलित चिन्तन का परिणाम है जिसे वह लाखों वर्षों से अपने तथा दूसरों के हित के लिए सोचता चला आया है। जिस प्रकार बसन्त रस संचार मे प्रकृति को नवीन रूप प्रदान करके एक अपूर्वता ला देता है। वह किसी वृक्ष में नई कोपलें निकाल कर किसी मे नए फूल खिलाकर तथा किसी में नए फल लगाकर एक नया सौन्दर्य प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार कवि अथवा कलाकार भी पुरानी बातों में अपने उक्ति वैचित्र्य से सर्वथा नवीनता ला देते हैं। इसी नवीनता को मौलिकता कहा जाता है।

एक अनोखी और चोखी बात जो एक को सूझती है दूसरे को भी सूझ सकती है। इसीलिए कभी-कभी दो कवियों के भाव भी आपस में टकरा जाते हैं। जैसे—

Lives of great men all remind us,
We can make our lives sublime;
And departing, Leave behind us,
Footprints, on the sands of time,

Longefellove

युगों की चट्टानों पर सृष्टि,
डाल पद-चिन्ह चली गम्भीर।
देव गन्धर्व असुर की पंक्ति,
*अनुसरण करती उसे अधीर।।** —प्रसाद

*प्रसाद जी के युगों पर, चट्टानों पर सृष्टि के साथ On the sands of time को तुलना कीजिये। प्रसाद जी लौंगफेलो से आगे बढ़ गये हैं।

कभी ऐसा भी होता है किसी एक कवि का वर्णन किसी कवि को इतना रुचिकर लगता है कि वह उसे मनन करते-करते इस प्रकार अपना लेता है कि परकीयत्व की प्रतीति तक नहीं रहती। ऐसी दशा में जब वह कुछ लिखने बैठता है तो उसकी लेखनी से वही भाव अनायास ही निकल पड़ते हैं। इस प्रकार के सादृश्य को भी हम चोरी नहीं कह सकते।

कभी-कभी किसी कवि को पूर्ववर्ती कवि की रचना पसन्द आ जाती है, साथ ही कुछ कमी भी उसमें जान पड़ती है। इसलिए वह ऐसी रचना में अपनी ओर से काट छाँट करके उसे एक नया ही रूप दे देता है। इस प्रकार की संस्कार की हुई रचना को भी हम मौलिक ही कहेंगे। अमरूक शतक, गाथा सप्तशती तथा आर्य्या-सप्तशती के पद्यों के साँचे में ढले हुए बिहारी के सैकड़ों दोहे हमारे इस कथन के साक्षी हैं। इसका एक उदाहरण देखिये:—

"सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
या बानिक मो मन बस्यो, सदा बिहारी लाल॥

अब इसी दोहे के साँचे में ढला हुआ दुलारेलाल का एक दोहा लीजिये:—

पट मुरली माला मुकुट, धरि कटि कर उर भाल।
मन्द-मन्द हँसिये हिये, नन्द दुलारे लाल॥

बिहारी के दोहे की छाया पर अपने दोहे की रचना करके दुलारेलाल ने इसमें यथा संख्य का पुट देकर जो नवीनता उत्पन्न की है, क्या उसे देखते हुए इस दोहे को मौलिक नहीं कहा जा सकता?

किसी रचना की समीक्षा करते हुए यह देखना आवश्यक है कि उस पर लेखक अपने व्यक्तित्व की छाप लगाने में कहाँ तक सफल

व्यक्तित्व की छाप ही मौलिकता है

हुआ है। यदि इस कार्य में लेखक को पूरी सफलता मिल भी गयी तो हमें रचना की मौलिकता को स्वीकार करना पड़ेगा। भले ही वह विचार जिन्हें उसने अपना रूप देकर दूसरों के सामने रखा है उसके न हों। व्यक्तित्व की छाप लगाकर किसी के भावों को उड़ालेना चोरी नहीं समझा जाता। किसी कवि ने ठीक ही कहा है:-

चाहत हैं पर अर्थ को, और न चाहत आन।
कवि व्यापारी देत हैं, सदा भाव पर जान॥

कवि और सफल व्यापारी परार्थापहरण में कभी नहीं चूकते। इस परार्थापहरण को छुपा सकना कठिन है। जो इस चोरी को छिपा सकने की योग्यता रखता है, वही सफल कवि है। एक कवि के भावों का दूसरे के भावों से मिलजाना स्वाभाविक ही है। हमें इस प्रकार के भाव सादृश्य बहुत मिलते हैं। इस प्रकार का भाव सादृश्य केवल एक ही भाषा के कवियों में नहीं हुआ। इस प्रकार का भाव सादृश्य तो उन कवियों में भी पाया जाता है जिनकी भाषा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थी। यहाँ इसके कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे।

साधु कामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः।
सारंगलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः॥

श्रीहर्ष—नैषध

कब हक़ परस्त ज़ाहिद जन्नत-परस्त है।
हूरों पे मर रहा है यह शहवत परस्त है॥

ज़ौक़

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथैव शास्त्राणि बहून्यधीत्य क्रियाविहीनाः खरवद्वहन्ति॥

पञ्चतन्त्र

न गहक्किक़ बुवद न दानिशमन्द,
चारपाये बरो किताबे चन्द।
आँ तिही माज़राचे इल्मो खबर,
कि बरओं हे जिमस्त या दफ्तर॥

शेखसादी

अनुवाद द्वारा ही किसी साहित्य में मौलिकता आती है किसी विद्वान् का यह कथन ठीक ही जान पड़ता है। विद्वानों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों के अनुवादों को पढ़कर सर्वसाधारण की रुचि वैसी ही पुस्तकों की रचना की ओर होती है। अतः हम अनुवाद को उच्चकोटि के साहित्य के निर्माण का प्रेरक कह सकते हैं।

अनुवाद और मौलिकता

मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील प्राणी है। इसकी यह अनुकरणशीलता ही उसे अनुवादों द्वारा मौलिक रचनाओं के लिए प्रोत्साहित करती है।

हम उच्चकोटि का सफल अनुवाद उसी को कह सकते हैं जो पढ़ते समय अनुवाद न जान पड़े, जिसे पढ़ने पर ऐसा जान पड़े मानो हम मूल रचना ही पढ़ रहे हों। ऐसा तभी हो सकता है जब अनुवादक लेखक के मूल भावों की रक्षा करता हुआ उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाने में समर्थ हो सका हो। इस प्रकार के अनुवाद भी कभी-कभी मौलिक रचना की कोटि में आ जाते हैं। तुलसी, रहीम तथा वृन्द के सैकड़ों दोहे जो संस्कृत सूक्तियों के अनुवाद मात्र कहे जा सकते हैं, इसी श्रेणी में आते हैं।

युग और मौलिकता

पुरानी बात को युग विशेष के साहित्यकार नये रंग तथा नये ढंग के साथ वर्णन करके उसका कायकल्प ही कर डालते हैं। इसी दृष्टि से कोण को सामने रखकर यदि हम आदि कवि की रामायण, तुलसी के मानस, तथा मैथिलीशरण के साकेत

का अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि तीनों का राम एक होते हुए किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं? आदि कवि का राम आदर्श प्रजा पालक है, तुलसी का राम है भक्तभयहारी भगवान, और मैथिलीशरण का राम भूतल को स्वर्ग बनाने वाला मानव। एक ही राम को युग विशेष के तीन कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार जो रूप दिया वही मौलिकता है।

युग विशेष के प्रभाव से कोई कलाकृति नहीं बच सकती। कला में युग का यह प्रभाव ही उसकी मौलिकता है।

इस दृष्टिकोण को सामने रखकर यदि हम महाभारत, भागवत जयदेव, विद्यापति, सूर तथा हरिऔध के कृष्ण को देखे तो हमें पता चलेगा कि इन सब में कितना वैषम्य है। जो कलाकार अपनी कला में इस युग प्रभाव को व्यक्त करने में अधिक सफल होता है वही श्रेष्ठ कलाकार है। उसी की कलाकृति मौलिक कही जा सकती है। भले ही वह किसी पूर्ववर्ती कलाकार की कला को आदर्श मानकर अपने चित्रों का निर्माण करता हो, अथवा किसी प्राचीन चित्र में ही युग विशेष का रंग देकर हमारे सामने आता है।

सर्वसाधारण मौलिकता का जो अर्थ लेते हैं यदि उस दृष्टि से कलाकृतियों की समीक्षा की जाय तो मौलिकता के दर्शन कहीं भी न होंगे। होमर के इलियड और आदि कवि की रामायण को देखकर यह बताना कठिन हो जायगा कि दोनों में मौलिक कौन है? कालिदास की तपोवन वासिनी शकुन्तला शेक्सपियर के निर्जन द्वीप में पली हुई मिरण्डा में कौन मौलिक है? यह प्रश्न एक पहेली बन जायगा। मौलिकता का प्रधान गुण है स्थायित्व, जो रचना जितनी मौलिक होगी वह उतनी ही स्थायी होगी। यदि कोई रचना इस कसौटी पर

खरी नहीं उतरती तो वह मौलिक नहीं कही जा सकती। मौलिकता से अभिप्राय है सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का ग्रहण और अशिव तथा असुन्दर का त्याग। संसार में जो शिव है वही शाश्वत है इस दृष्टि-कोण को सामने रखकर जो रचना की जायगी वह आप ही स्थायित्व प्राप्त कर लेगी। जिस रचना में यह स्थायित्व होगा उसकी मौलिकता को कौन स्वीकार नहीं करेगा ?

मौलिकता की यही सच्ची कसौटी है, किसी ग्रन्थ के प्रकाशित होने के एक अथवा दो शताब्दिबाद ही वह इस दृष्टि से परखी जा सकती है। इसीलिए किसी ने कहा है कि मौलिकता की परीक्षा किसी ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही नहीं की जा सकती। जीर्ण का नाश और नवीन का निर्माण करने वाली प्रकृति शताब्दियों बाद यह कार्य अपने आप कर डालती है।



साहित्य का विहंगावलोकन

साहित्य क्या है ?

साहित्य भाषा के उस परिष्कृत तथा परिमार्जित रूप का नाम है जिसमे अगली पीढ़ियों के लिए कोई सन्देश सुरक्षित हो; जिसके पठन-पाठन अथवा श्रवण से हृदय-वीणा के तार झंकृत हो उठें; हृदय-सागर में आनन्द की लोल लहरियाँ उठने लगे।

हम साहित्य मे दो बाते पाते है—एक विचारों की विशदता दूसरी विचारों को सुचारु रूप से प्रकट करना। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर समस्त साहित्य समीक्षकों ने विश्व-साहित्य के दो रूप माने हैं—एक भावपक्ष, दूसरा कलापक्ष। साहित्य निर्माता जो सन्देश अगली पीढ़ियों को देता है भावपक्ष कहलाता है। उन विचारो, को जिन्हें कवि अथवा साहित्य-निर्माता अपने सन्देश द्वारा दूसरो तक पहुंचाता है, विशदता तथा सुचारुता के साथ प्रकट करने को कलापक्ष कहते हैं। आर्य्य आचार्यों ने अलंकारों को कलापक्ष के अन्तर्गत माना है क्योंकि अलंकार भाषा को सजाने तथा सँवारने में सहायक होता है। कला-पक्ष का दूसरा नाम रचनातत्व अथवा शैली भी है।

कवि की वाणी जो सन्देश देती है उसके द्वारा वह युग का सच्चा प्रतिनिधित्व तथा सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की सृष्टि करता है।

साहित्य के तत्व

कवि के सन्देश की विशदता उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। अतः उसकी प्रतिभा जितनी प्रखर, परिष्कृत तथा परिमार्जित होगी उसका सन्देश भी उतना ही महान होगा। इसीलिए साहित्य-समीक्षकों ने भावपक्ष में बुद्धितत्व की प्रधानता मानी है।

कवि अमूर्त को मूर्तरूप देता है। कल्पना की उंगलियों से हृदयवीणा के तारों को झंकृत करता है। इसीलिए किसी ने कहा है– जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि !' इस सुभाषित का अभिप्राय यही है कि कवि की पहुच सब जगह है। वह अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे राई से पर्वत और पर्वत से राई करने की सामर्थ्य रखता है। ऐसी दशा में कवि में कल्पना-शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। यदि उसमें कल्पना-शक्ति का अभाव होगा तो वह अपने पाठकों के चर्म चक्षुओं के सामने अन्तर्जगत की सूक्ष्म भावनाओं का चारुचित्र अंकित करने में असमर्थ रहेगा। अंग्रेजी में कल्पना-शक्ति के लिए Imagination का प्रयोग होता है। Image शब्द का अर्थ है मूर्ति, अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना का उद्देश्य है केवल अमूर्त को मूर्त रूप देना। यह सब प्रतिभाद्वारा ही हो सकता है। समस्त साहित्यमीक्षकों ने प्रतिभा को ही कल्पना की जननी माना है। प्रतिभा प्रसूत कल्पना पर ही समस्त साहित्य का सौन्दर्य निर्भर है। अतः भावना के क्षेत्र में बुद्धितत्व के बाद कल्पना तत्व का स्थान है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो समाज में पलकर बड़ा होता है। समाज से वह किसी प्रकार भी अलग नहीं हो सकता। जो भी वह सुख-दुःख प्राप्त करता है उसका सम्बन्ध समाज से है। इसीलिए

यह अपना सुख-दुःख दूसरो को सुनाकर अपने हृदय का बोझ हलका करता है तथा दूसरों के सुख-दुःख में स्वयं भाग लेकर अपनी जिज्ञासा वृत्ति को शान्त करता है इस पारस्परिक मिलने-जुलने तथा आदान-प्रदान को हम *रागात्मक तत्व* कह सकते है। विश्वभर का साहित्य मानव की इसी रागात्मिका वृत्ति पर ही आधारित है। इसीलिए साहित्य समीक्षकों ने समस्त विश्व साहित्य दो भागों मे विभक्त किया है—एक वह जिसमे कवि अथवा कलाकार केवल अपने विषय मे कहता है। दूसरा वह जिसमे कवि अथवा कलाकार अपने विषय मे न कह कर दूसरो के विषय मे कहता है। ऐसी रचना जिनमें कवि तथा कलाकार केवल अपने विषय में कहता है **विषयी-प्रधान** कहलाती है। इनमे केवल कवि की आपबीती होती है। मुक्तक रचनाएँ तथा प्रगीत काव्य इसी श्रेणी में आते है। ऐसी रचनाएं जिनमे कवि अपने विषय मे न कहकर दूसरों के विषय मे कहता है, **विषयप्रधान** कहलाती हैं। विषयप्रधान रचनाओं में कवि **आपबीती** न कह कर **जगबीती** कहता है। कवि का संसार बहुत विस्तृत होता है। वह केवल अपने ही सुख-दुःख को अनुभव नहीं करता प्रत्युत दूसरो के सुख-दुःख को भी अनुभव करता है। जिसका हृदय लोनी-लोनी ललित लताओं के वृन्त पर झूलती हुई कुसुम-कलिकाओं को देख कर आनन्द-सागर मे निमग्न नहीं हो जाता जो कुटिल तथा सरल गति से प्रवाहित होने वाली सरिताओं के सरस तथा सुखद संगीत को सुनकर अपने आप को भूल नही जाता, वह भी क्या कविता कर सकता है? नहीं, नहीं, कदापि नही। ऐसा तभी हो सकता है जब उसके हृदय में इस विशाल विश्व के प्रति अनुराग हो। मानव की इसी वृत्ति को हम रागात्मिका वृत्ति कह सकते है। इसी रागात्मिका वृत्ति का दूसरा नाम सहृदयता है।

इस प्रकार *रचनातत्व, बुद्धितत्व, कल्पनातत्व* तथा *रागात्मक तत्व* द्वारा साहित्य की आत्मा तथा उसके शरीर का निर्माण होता है। बुद्धितत्व, कल्पनातत्व तथा रागात्मक तत्व भाव पक्ष के अन्तर्गत आते है; और रचनात्मकतत्व कला पक्ष के। प्रत्येक रचना में भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों रहते है। कहीं कलापक्ष प्रधान रहता है और कहीं भावपक्ष। भाषा का सजाना और संवारना आवश्यक तो है पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि सजाने और संवारने के पीछे भावों की हत्या कर डाली जाय। वास्तव में भाव, साहित्य की आत्मा है, अलङ्कारादि जिन्हें हम बाहरी सजावट तथा बनावट कह सकते है केवल दिखावट मात्र है। कविता देवी को विभूषित करने के लिए ही इनका प्रयोग किया जाता है। गहनों से सजा हुआ सुन्दर तथा निष्प्राण शरीर सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। भावों से शून्य अलङ्कारों से लदी हुई कविता काव्य कला कोविदों को मुग्ध नहीं कर सकती।

साहित्य का आदर्श

वास्तविक सौन्दर्य तो शरीर और आत्मा के समन्वय पर ही अवलम्बित है। जीवन न तो केवल शरीर को कहा जा सकता है और न केवल आत्मा ही को। हाँ! शरीर और आत्मा के समन्वय को अवश्य जीवन कहा जा सकता है। अतः हम न तो केवल भाव पक्ष में ही काव्य अथवा साहित्य कह सकते हैं और न केवल कलापक्ष को ही साहित्य अथवा काव्य की संज्ञा प्रदान कर सकते है। कुशल कलाकारों तथा सफल साहित्य निर्माताओं की रचना में अलंकार अनायास ही आ जाते है। वे स्वर्णकारों की तरह अलंकार नहीं घड़ा करते। इसलिए यदि कवि इस बनावट और सजावट के फेर में पड़कर भावों की हत्या कर डालता है तो उसका सारा परि-

भ्रम व्यर्थ समझना चाहिये । साहित्य का वास्तविक सौन्दर्य तो कला-पक्ष और भाव पक्ष के सुन्दर समन्वय में ही है । इसीलिए वास्तविक सजावट के सामने बनावटी सौन्दर्य अथवा कलाबाजी को कोई नहीं पूछता । महाकवि जौक ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है:—

'नहीं मुहताज जेवर का, जिसे खूबी खुदा देवे ।''

साहित्य में केवल लालित्य ही नहीं बल्कि स्थायित्व भी है । साहित्य निर्माता युगों के लिए अपना यश छोड़ जाता है ।

साहित्य की विशेषता

साहित्य का स्थायित्व निर्भर है केवल कवि के सन्देश पर कवि का सन्देश जितना महान् होगा उसकी वाणी में उतना ही स्थायित्व होगा । प्राकृतिक नियम है कि संसार में उत्तम वस्तु ही बहुत दिनों तक टिकती है । कूड़ा करकट बहुत दिनों तक रहने नहीं पाता । जीर्ण का नाश और नवीन का निर्माण करने वाली प्रकृति अपनी इसी विशेषता के कारण ही विश्व को प्रगतिशील बनाये हुए है । कवि की वही रचना स्थायी हो सकती है जिसमें ऐसा सन्देश हो जो अगली पीढ़ियों तक सुरक्षित रह सके । ऐसी रुचिर तथा रोचक रचनाएं शताब्दियों, अथवा सहस्त्राब्दियों में रची जाती है । इसीलिए सभी प्रकार की रचनाएं साहित्य नहीं कहलायी जा सकतीं । विज्ञान को हम साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि न उसमें स्थायित्व होता है न लालित्य । विज्ञान आज जो सिद्धान्त स्थिर करता है, वे कल समय की गति विधि के साथ पुराने हो जाते है तथा उनमें नित्य नये परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहते हैं । रूखा-सूखा तथा जटिल विषय होने के कारण वह सर्वसाधारण के लिए रुचिकर भी नहीं है । इतिहास को भी हम साहित्य नहीं कह सकते । केवल वर्णनप्रधान होने से अथवा घटनाप्रधान होने से ही कोई रचना साहित्य नहीं कहलायी जा सकती, जब तक कि उसमें

रोचकता न हो। इतिहास विविध घटनाओं का सन-सम्वतों के आधार पर किया गया, एक संकलन मात्र ही तो है।

सभी प्रकार की रचनाएँ जिस श्रेणी में आती हैं उसे आर्य आचार्यों ने वाङ्मय का नाम दिया है। अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य वाङ्मय के अन्तर्गत आ जाता है। सभी प्रकार का वाङमय साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। वाङमय के अन्तर्गत साहित्य, राजनीति, दर्शन तथा अर्थशास्त्र आदि सभी विषय आ जाते हैं। साहित्य शब्द का प्रयोग सांगोपांग काव्य के अर्थ में होता है। जिसमें कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध-पत्र आदि ही आते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी समीक्षा तथा व्याख्या को भी हम साहित्य कह सकते हैं।

साहित्य और वाङ्मय

साहित्य में कलापक्ष भी होता है। इसलिए साहित्यिक रचनाओं का यथार्थ अनुवाद नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सभी व्यक्तियों के बिचार प्रकट करने का ढंङ्ग अलग होता है उसी प्रकार सब की शैली भी भिन्न होती है। सच पूछिये बिचार प्रकट करने के ढंङ्ग का नाम शैली है। किसी भी लेखक अथवा कवि की रचना शैली पर उसके व्यक्तित्व की छाप होना आवश्यक है। यही कारण है कि हम किसी रचना के भाव पक्ष का अनुबाद तो कर सकते हैं; पर उसकी रचना शैली का प्रत्यक्षीकरण नहीं करा सकते। कवि का शब्द चमत्कार ,विशद वाक्य विन्यास सभी कुछ अलग होता है। इसीलिए उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर देना अनुवादक के लिए टेढ़ी खीर है। इसके कुछ उदाहरण देखिये:—

अहासन नाखुदा का उठाये मेरी बला।
कश्ती खुदा पै छोडदूँ लङ्गर को तोड़दूँ॥

इस शेर के नाखुदा शब्द में माझी और नास्तिक का जो चमत्कार पूर्ण श्लेश है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यदि अनुवादक इस शब्द का अनुवाद करने बैठे तो उसके लिए ना खुदा जैसा श्लेश दूसरी भाषा मे मिलना कठिन हो जायगा। अब जरा बिहारी के इस दोहे को भी देखिये:—

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैंन,
हरिनी के नयनानते हरनी के ये नैन।

उपर्युक्त दोहे में हरिनो के तथा मैने शब्द में जो चमत्कार है वह दूसरी भाषा में कहां? इसी प्रकार यह श्लोक इसका अच्छा उदाहरण है:—

साक्षरा बिपरीताश्चेद राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरी तोपि सरसत्व न मुञ्चति ॥

इस श्लोक के साक्षरा तथा राक्षसा शब्द मे जो चमत्कार है वह दूसरी भाषा में कहां?

साहित्य के भावपक्ष, कलापक्ष तथा मूलतत्वों को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम नीचे एक चित्र देते हैं, इसे ध्यानपूर्वक देखिये:—

साहित्य

- कलापक्ष (शरीर)
  - रचनातत्व
    - अलंकार-शब्दशक्ति
- भावपक्ष (प्राण)
  - बुद्धितत्व
    - वह संदेश जिसे साहित्यकार अगली पीढ़ियों को देता है
  - कल्पनातत्व
    - अमूर्त को मूर्त-रूप देने की शक्ति
  - रागात्मक तत्व
    - सांसारिक रागद्वेष तथा सुख-दुख से सम्बन्ध

किसी देश अथवा जाति विशेष के रीति-रिवाजों, दन्तकथाओं परम्परागत विश्वासों तथा वीर गाथाओं से उनके जातीय साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी दशा में किसी जाति के साहित्य का सच्चा आनन्द जभी प्राप्त किया जा सकता है जब हमारी जानकारी उपर्युक्त सभी बातों से हो। उदाहरणार्थ किसी कवि के इस दोहे को लिजियेः—

पियत पयोधरे पूतना यों हरि मुख छबि देत।
गह्यो कलाधर कलसमन वैर बाप को लेत॥

जो यह नहीं जानता कि कलश के पुत्र (अगस्त) और कलाधर (चन्द्रमा) के पिता समुद्र मे क्या शत्रुता थी, वह इस दोहे के साहित्यिक सौन्दर्य को क्या खाक समझेगा।

जातीय-साहित्य

साहित्य जाति विशेष के मस्तिष्कों की उपज है। किसी जाति का सच्चा स्वरूप उसके साहित्यरूपी मञ्जुल मुकुर मे ही देखने को मिलता है। साहित्य, संस्कृति और जातीयता इन तीनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीय साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जिसके द्वारा कोई भी जाति संसार के किसी भी देश में बसकर अपनी पितृभूमि से अपना सम्बन्ध बनाए रखती है। उदाहरणार्थ मुसलमानों को ही लीजिये। शताब्दियों से भारत में बसकर भी वे अपना सम्बन्ध तुरुक, ईरान तथा अरब आदि देशों से बनाये हुए हैं। भारत में बसने वाली हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियां जो अधिक संख्या में हैं, भारत को अपनी मातृभूमि मानती हैं, किन्तु दोनों की पितृभूमि अलग है। हिन्दुओं की पुण्यभूमि तथा पितृभूमि भारत है, उसी में ही उनके

परम्परागत इतिहास का निर्माण हुआ है। धार्मिक प्रकाश भी उन्हें भारत से ही मिला है। मुसलमानों के परम्परागत इतिहास का निर्माण हुआ है अरब तथा ईरान में। उन्हें धार्मिक प्रकाश भी केवल अरब से मिला है। इसीलिए वे भारत में रहकर भी "मेरे-मौला बुलाले मदीने मुझे" का बेसुरा राग अलापते हैं। अरब संसार भर के मुसलमानों की पुण्यभूमि है। जितना प्रेम वे अरब से करते हैं उतना अपनी मातृभूमि से भी नहीं करते। मुसलमान हिन्दुओं की तरह राधा और कृष्ण को प्रेम का आदर्श नहीं मानते। उनके प्रेम के आदर्श हैं यूसुफ जुलेखा, तथा लैला-मजनूं। उनके लिए वीरता के आदर्श भीम-अर्जुन नहीं हैं। उनकी वीरता के आदर्श हैं सुहराब और रुस्तम। वे गंगा और यमुना के गीत गाने की अपेक्षा दजला और फरात का तराना छेड़ना कहीं अच्छा समझते हैं। यही कारण है कि भारत में निर्मित होने पर भी उर्दू का समस्त साहित्य भारतीयता से कोसों दूर है।

युग और साहित्य

जिस जाति का साहित्य जितना महान् होगा वह जाति उतनी ही शक्तिशालीनी तथा सप्राण होगी। जिस जाति का साहित्य जितनी हीन अवस्था में होगा वह जाति भी उतनी ही पतित तथा पिछड़ी हुई होगी। अतः हम साहित्य को जातियों के उत्थान तथा पतन की कहानी कह सकते हैं।

महाकाव्य तथा वीरगीत साहित्य की स्थायी सम्पत्ति होते हैं। वे उस दिव्य दर्पण के समान हैं जिसमें जातियों का सच्चा स्वरूप देखा जा सकता है। अतः जातियां ऐसी रचनाओं के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति रखती हों, हमारे यहां रामायण और महाभारत इसी

कोटि की रचनाएँ हैं। भगवान् राम और कृष्ण के चारु चरित्र को चित्रित करने वाले यह दोनों ग्रन्थ मानवता के सच्चे स्मारक कहे जा सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि महाकाव्य तथा वीरगीत मानवता के ऐसे स्मारक हैं जो न कभी नष्ट होते हैं न पुराने।

अपने प्रियजनों की स्मृति-रक्षा के लिए संसार क्या नहीं करता! संसार का अद्वितीय समाधि भवन ताजमहल इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। मिश्र के शवागार जिनमें फ़राऊनों के शव सुरक्षित हैं इसके अच्छे नमूने हैं। पर यह क्या किसी की गौरव-गाथा को युगों-युगों तक सुरक्षित रख सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं। यह सब वस्तुएं काल की उदरदरी में विलीन हो जायगी, रहेगा वह जिसे कवियों ने लौह लेखनी द्वारा अमरत्व प्रदान किया है। कवि महाकाव्यों तथा वीरगीतों में उन्हीं युग निर्माताओं की गौरव-गाथाओं का गान करते हैं जिन्हें मानव अपने हृदय-मन्दिर में देवता बना कर पूजना चाहता है। ऐसे स्मारकों का निर्माण करके कवि स्वयं अमर होता है तथा उन महापुरुषों को भी अमरत्व प्रदान करता है। वह जिनका वर्णन अपने महाकाव्यों तथा वीरगीतों में करता है वे कभी मरते ही नहीं। वे मानवों के हृदय सिंहासन पर अनन्त काल तक राज्य करते रहते हैं।

मानव चरित्र का सौन्दर्य इसमें है कि वह अपने पीछे यश छोड़ जाय जिससे अगली पीढ़ियां उसे सदा याद करती रहें, कभी भूलें नहीं। एसे महापुरुष अपनी गौरवगाथा द्वारा प्रतिभाशाली लेखकों तथा कवियों के लिए पहले से ही क्षेत्र तैय्यार कर जाते हैं। सभी जातियों का साहित्य ऐसे महापुरुष को पाकर धन्य हुआ है। हमारा सारा साहित्य राम-कृष्ण तथा तथागत को पाकर कृत्य कृत्य

हो उठा है। ये युग पुरुष भारतीय साहित्य के विषय बन कर कृतार्थ नहीं हुए, प्रत्युत भारत इनका गान करके अमर हो गया है।

आज से हजारों वर्ष पूर्व बाल्मीकि तथा व्यास ने राम और कृष्ण के जिस परम पवित्र चरित्र का गान करके अमरत्व लाभ किया था, उससे आज भी जनों की वीणा झंकृत हो रही है और कल भी होगा। कवि अश्वघोष ने बुद्ध के जिस चरित्र का गान करके अपनी गिरा के गौरव को बढ़ाया था वह भव्य भारतभूमि तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सात समुद्रों को पार करके यूरोप तक पहुंचा। इसी बुद्ध चरित्र के आधार पर आर्नल्ड ने "Light of Asia" की रचना करके विश्व साहित्य को गौरवान्वित किया।

संसार में ऐसे पुरुष इने-गिने होते हैं जो अपने पवित्र चरित्र द्वारा धरा धाम पर ऐसी सामग्री छोड़ जाते हैं जिसके आधार पर कविगण महाकाव्य तथा वीरगीतों का प्रासाद खड़ा करते हैं। ऐसे महापुरुषों को पाकर कला का गौरव बढ़ता है महापुरुषों का नहीं।

विश्वसाहित्य में करोड़ों रचनाएँ हो चुकी हैं और होंगी, पर अमरत्व कुछ ही रचाएँ प्राप्त कर सकीं। मैं इन गिनी-चुनी रचनाओं में बाल्मीकि की रामायण, व्यास के महाभारत, अश्वघोष के बुद्ध-चरित्र, मिल्टन के पैराडाइज लास्ट तथा फिरदौसी के शाहनामे के नाम आपको गिनवा सकता हूं।

उपर्युक्त विषय पाकर ही कला निखरती है; उसमें चार चांद लग जाते हैं। चित्र की चारुता बढ़ जाती है; संगीत की सरसता सौगुनी हो जाती है। काव्य की कमनीयता चरमसीमा पर पहुंच जाती है। राम और कृष्ण को पाकर हमारे साहित्य का लालित्य बढ़ा और साहित्य के विषय बनकर राम और कृष्ण अमर हो गये।

मेरा तो विश्वास है यदि अपनी कविता कामिनी के लिए राम और कृष्ण जैसे नायक न मिलते, तो बाल्मीकी और व्यास का कोई कौड़ियों को भी न पूछता। वीरभोग्या बसुन्धरा ऐसे महापुरुषों को हजारों तथा लाखों वर्ष के बाद जन्म देती है।

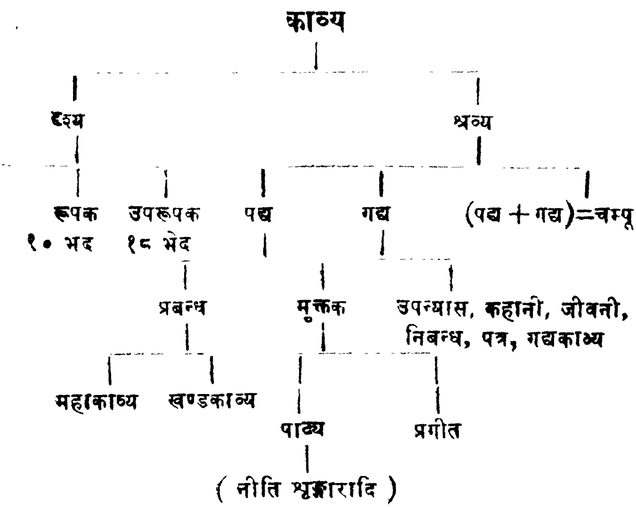
कवि सौन्दर्य का व्याख्याता होता है। वह सौन्दर्य की जो व्याख्या करता है उसी का नाम है साहित्य।

सभी की रुचि एक सी नहीं होती। जो वस्तु एक के लिए सुन्दर है वह दूसरे के लिए भी सुन्दर नहीं हो सकती है। सौन्दर्य के विषय में पूर्व का जो दृष्टिकोण है वह पश्चिम का नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति की रुचिपर देशकाल तथा परिस्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसीलिये संसार के समस्त प्राणियों की रुचियों मे हम विषमता पाते है। फिर भी उच्चकोटि का साहित्य हम उसे ही कहेंगे जो देशकाल की सीमा पार कर चुका हो। जो सभी देश तथा सभी जाति के मनुष्यों को रुचिकर प्रतीत हो।

साहित्य का निर्माण गद्य-पद्य दोनों मे हो सकता है। पद्य मे की गयी रचना को कविता कहते है और गद्य मे की गयी रचना को गद्य काव्य। जो काव्यमय नहीं है उसे कविता नहीं कह सकते। उसे तो पद्य अथवा तुकबन्दी कहेंगे। वह गद्य जो साहित्यिक नहीं है, जिसमे काव्यमयता का अभाव है उसे भी गद्य-काव्य नहीं कहा जा सकता। हम उसी रचना को गद्यकाव्य कहेंगे जो साहित्यिक तथा काव्यमय हो। संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्य के मुख्य दो भेद किये हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। श्रव्य काव्य के तीन उपभेद हैं। पद्यकाव्य या कविता, गद्यकाव्य तथा चम्पू। पद्यकाव्य के अन्तर्गत

क्या काव्य-निर्माण पद्य ही में हो सकता है?

महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक रचनाएँ आती है और गद्यकाव्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिकाए। जीवन चरित्र, निबन्ध तथा पत्र भी गद्यकाव्य के अन्तर्गत आ जाते है। गद्य-पद्य मिश्रित काव्यमय रचना को चम्पू कहते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए नीचे एक चित्र भी दिया जाता है:—



साहित्य की परिभाषा है

हम पहले कह चुके है कि कवि की वाणी मे युग के लिए एक नया सन्देश रहता है। जिस कवि की वाणी में विश्व को सन्देश देने की शक्ति है वह किसी देश विशेष का नहीं होता। ऐसी दशा में हम केवल उन्हीं रचनाओं को काव्य

कह सकते हैं जिनमें किसी युग विशेष का सन्देश हृदयहारी वाणी द्वारा दिया गया हो ।

रुचि भिन्नता के कारण संसार के सभी विद्वानों ने साहित्य की समीक्षा अपने-अपने ढंग से की है । कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में साहित्य अथवा काव्य की परिभाषा करते हुए कहा है:—

"वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्"

इसी प्रकार रस गंगाधर में काव्य की समीक्षा करते हुए पण्डित राज कहते हैं:-

"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

भिन्न भिन्न रुचि होने के कारण समीक्षकों ने साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं । पर इतना तो सभी मानते हैं कि काव्य का उद्देश्य मन को आनन्द प्रदान करना है । वर्डस् वर्थ कहता है:-

'Poetry is the spontaneaous over flow of emotions recollected in tranquility' अर्थात् काव्य शान्ति के समय स्मरण किए हुए मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है । इसी प्रकार हडसन कहता है:—

Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion. अर्थात् काव्य, कल्पना और मनोवेगों द्वारा की गयी जीवन व्याख्या है ।

मैथ्यूआर्नल्ड का कथन है:—

Poetry is at bottom a criticism of life. अर्थात् काव्य के मूल में जीवन की आलोचना निहित होती है ।

डा० जौनसन काव्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं:—

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason. अर्थात् कविता, सत्य और आनन्द के मिश्रण की कला है जिसमे बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

मिल्टन काव्य की समीक्षा करते हुए इस प्रकार कहता है :— Poetry ought to be simple, sensuous and impassioned अर्थात् कविता वह है, जो सरल बोधगम्य तथा भावपूर्ण हो।

मैकाले कहते है:- We mean the art of employing words in such a mannar as to produce an illusion on the imagination. अर्थात् शब्दों के प्रयोग की ऐसी रीति की कल्पना को कविता कहते है जिसमें कल्पना के ऊपर एक प्रकार के चमत्कार का प्रादुर्भाव होता है।

शैले कहता है:— Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds. अर्थात् कविता सर्वश्रेष्ठ और सुखतम मस्तिष्कों के श्रेष्ठ एवं सुखमय अवसरों की रचना का समूह है।

ऐल्फ़ेल लॉयल कहते है:— Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideals of the age. अर्थात् युग विशेष के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट कर देना कविता है।

ड्राइडन कहता है:— Poetry is articulate music. अर्थात् कविता अर्थपूर्ण संगीत है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी द्रष्टव्य है। आचार्य शुक्ल ने काव्य की विवेचना बहुत ही सुन्दर तथा दार्शनिक ढंग से की है। वे कहते हैं:— जिस

प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी युक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।"

कवि भावुक है; उसके हृदय में भावनाओं का उद्गार उसी प्रकार उठता है जिस प्रकार समुद्र में ज्वार। भावुक कवि की भावनाएँ जब उसमें समा नहीं सकतीं तो वह उद्गारों के रूप में उमड़ पड़ती हैं। इसीलिए कवि पन्त ने कहा है:—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप वही होगी कविता अनजान॥

कवि अपने इन्हीं उद्गारों के कारण सत्य के अति निकट पहुँच जाता है। यह ठीक है कि कवि वैज्ञानिक की तरह केवल सत्य का पुजारी नहीं है; फिर भी वह अपनी वाणी द्वारा जिस सत्य की सृष्टि करता है उसमें आत्मा का दिव्य सौन्दर्य होता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसीलिए कहा है:—

Nothing less than the most perfect speech of man that in which he comes nearest to being able to utter the truth. अर्थात् कविता मनुष्य की वह विकासपूर्ण वाणी है जिसमें वह सत्य के अति निकट पहुँच जाता है।

ऐसी अवस्था में हम उसी रचना को ही काव्य कहेंगे जिसे पढ़कर हृदयसागर में आनन्द की हिलोरें उठने लगें। साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है दूसरों को प्रभावित करना। ऐसी रचना जो दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकती हम उसे साहित्य के नाम से विभूषित नहीं कर सकते। मौलाना आज़ाद इसीलिए कहते हैं:—

है इल्तजा यही कि अगर तू करम करे !
वो बात दे जबां में कि सब पर असर करे ॥

कवि की वाणी कल्पना और संगीत के साथ मिलकर युग के स्वरों में अपना कण्ठ मिलाती हुई आने वाली पीढ़ियों को जो सन्देश देती है उसी का नाम कविता है। गद्यकाव्य में संगीत का अभाव है। इसीलिए वह कविता के समान हृदयहारी नहीं हो सका। कविता तथा संगीत में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि संगीत केवल रंजनात्मक है और कविता रंजनात्मक होने के साथ-साथ रसात्मक भी है। संगीत में न कोई सन्देश होता है और न कोई कल्पना। स्वरों का आरोह और अवरोह ही संगीत के लिए पर्याप्त है। निर्झरों के कल-कल और छल-छल में कोकिला की पञ्चमतान में तथा मधुकरी की मृदुल गुञ्जार में जो संगीत है वह किसके मन को मुग्ध नहीं करता ? पर उनके संगीत में वह सन्देश कहाँ, जो आने वाली पीढ़ियों के साथ अतीत का सम्बन्ध जोड़ता है।

गीत काव्यमय होकर गीतिकाव्य (Lyric) कहलाता है। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य तथा संगीत का सम्बन्ध सोने में सुगन्ध के समान है। काव्य संगीतमय होकर कविता कहलाता है और संगीत काव्यमय होकर गीत कहलाता है। सूरदास, नन्ददास, मीरा तथा महादेवी की वाणी में संगीत काव्यमय होकर झंकृत हो उठा है। तुलसी, बिहारी, रसखान और घनआनन्द के स्वरों में काव्य संगीतमय होकर मुखरित हो उठा है।

कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह छन्दशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का अध्ययन, अनुशीलन तथा मनन करके कविता करने के लिए बैठे, यह ठीक है कि शास्त्रीय अध्ययन से उसकी प्रतिभा पकी

थिरकने लगेगी। पर यह नहीं कहा जा सकता कि शास्त्रीय अध्ययन किसी प्रतिभाशून्य को कालिदास बना देगा। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है!—

"कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥"

प्राचीन आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, इन तीनों को काव्य का कारण मानते हैं, काव्य रचना के लिए कवि में पद-रचना तथा शब्द योजना का मूल कारण प्रतिभा ही है। प्रतिभा के बिना काव्यशास्त्र का अध्ययन तथा काव्य रचना का अभ्यास सब व्यर्थ है। इसीलिए यह भी देखा गया है कि किसी-किसी विषय पर साधारण योग्यता रखने वाले ग्रामीण भी बहुत सुन्दर रचना कर जाते हैं—ऐसी सुन्दर कि जिसे देखकर बड़े-बड़े विद्वान् भी चकित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यह मानना पड़ता है कि कवि अथवा कलाकार पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते।

कविता में कल्पना तो अवश्य होती है, पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह सत्य से हमें बहुत दूर ले जाय। कल्पना का सौन्दर्य

कवि कथन में सम्भवता

इसी में है कि वह अस्वाभाविक न जान पड़े अथवा हमें वास्तविकता से दूर न ले जाय। यदि कवि-कल्पना वास्तविकता से दूर होगी तो वह अपना सौन्दर्य खो बैठेगी। मुगलकाल के दरबारी कवियों की लम्बी-चौड़ी अत्युक्तियों और अतिशयोक्तियों में कल्पना की जो दुर्दशा हुई, वह किससे छिपी है? उनकी साँसों के हिंडोले पर झूलने वाली कविता कामिनी वास्तविकता से कितनी दूर है, इसका अनुमान बिहारी के इस दोहे से लगाया जा सकता है—

इत आवत चलिजात उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ीहिंडोरे से लगी, रहे उसासन साथ॥

न तो कवि वैज्ञानिक तथा इतिहासकार की तरह कोरा सत्य कहता है न शुष्क दार्शनिक की तरह किसी गूढ़ तथा गम्भीर विषय की मीमांसा करने बैठता है। वह तो सत्य में कल्पना का पुट देकर उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। सत्य और कल्पना का पुट देकर सौन्दर्य की सृष्टि करने के कारण ही वह वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा इतिहासकार से आगे बढ़ जाता है। कल्पना का टच देने के कारण ही कवि अपनी बात में बात पैदा कर देता है। इसीलिए उसकी हर बात दिल पर असर करने वाली होती है।

साहित्य और उसका विषय

कवि में निरीक्षण-शक्ति का होना भी नितान्त आवश्यक है। उसकी निरीक्षण-शक्ति जितनी पैनी होगी उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी। जिसकी प्रतिभा जितनी प्रखर होगी उसकी कल्पना भी उतनी ही उत्कृष्ट होगी। जिसकी कल्पना जितनी उत्कृष्ट होगी उसकी रचना भी उतनी ही मनोहर तथा सुन्दर होगी। वस्तु निरीक्षण से अभिप्राय यहां वर्ण्य विषय का गम्भीरता पूर्वक अवलोकन करने से है। जो कवि जितना तीव्रदर्शी होगा वह अपने लिए उपयुक्त विषय चुनने में उतना ही सफल होगा। वास्तव में कविता के लिए उत्कृष्ट विषय चुनने पर ही कोई कवि अमरत्व लाभ करता है। रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा-महाराजाओं के गुण-गान करके लाखों और करोड़ों की जागीरें प्राप्त कीं, पर उन्हें जानता कौन है? भूषण ने जिस शिवाजी को अपनी कविता का विषय बनाया उसके प्रति भक्ति और सम्मान की भावना समस्त हिन्दू जनता के हृदय में

थी। यही कारण है कि भूषण आज भी भावुक जनता के हृदय में अपना स्थान बनाये हुए है और युगों-युगों तक बनाये रहेगा।

अब तक हमने जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष यही है कि साहित्य के अन्तर्गत वे ही रचनाएं आती हैं, जिन्हें पढ़कर हृदय-सागर में आनन्द की तरंगें उठ सकें तथा स्थायित्व हो। ऐसी रचनाएं गद्य तथा पद्य दोनों में ही की जा सकती हैं। यदि किसी रचना में यह गुण नहीं है तो वह साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सकती। जातियों के इतिहास को सुरक्षित रखने में साहित्यनिर्माताओं की लेखनी ने बहुत कार्य किया है। यह ठीक है कि उन्होंने इतिहासकारों की तरह सन्-सम्बतों के आधार पर कोई ब्योरेवार इतिहास तैयार नहीं किया। फिर भी उन्होंने जो कुछ कहा है उसी में हमारा पुरातन इतिहास सुरक्षित है। कालक्रम से इतिहास पुराना पड़ जाता है पर कवियों के काव्यों में सुरक्षित इतिहास हमेशा नया रहता है, यही उसकी विशेषता है। अन्त में मैं महामुनि भर्तृहरि के इन शब्दों के साथ इस प्रबन्ध को समाप्त करता हूं:—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्तियेषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

इसीभाव को महाकवि जौक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

रहता सखुन से नाम कयामत तलक ऐ जौक।
औलाद से तो है यही दो पुश्त चार पुश्त॥

साहित्य में गीतिकाव्य का स्थान

गीतिकाव्य

शेक्सपियर ने कवि, पागल और प्रेमी इन तीनों को एक ही श्रेणी में रखा है। वह इस सम्बन्ध में कहता है:—

"Lovers and madmen have such secthing brains,
Such shaping fantasies, that apprehend;
More than cool reason ever comprehends.
The lunatic, the lover, and the poet,
Are of imagination all compact:

कवि, प्रेमी तथा पागलों की तरह अपने उद्गारों को अपने आप ही अपने से कहता है। उसकी इस प्रकार की रचनाओं में उसकी आपबीती होती है। इस प्रकार के उद्गारों के हम दो भेद कर सकते हैं—एक पठनीय और दूसरा गेय। उसके पठनीय उद्गार नीति विषयक तथा सांसारिक अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली मुक्तक रचनाओं में मिलते हैं। उसके सुख-दुःख तथा राग-द्वेष विषयक उद्गार गीति काव्य में मिलते हैं।

कवि की आपबीती कहलाने वाली रचनाएँ मुक्तक काव्य की श्रेणी में आती हैं। मुक्तक रचनाओं से अभिप्राय उन रचनाओं से होता है जो अपनी अगली-पिछली रचनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। मुक्तक रचनाओं में प्रत्येक पद्य अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इस विषय में डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा है:—

"मुक्तक एक ऐसी मुक्तामणि है जिसे चाहे आप शतकों, महाशतकों की पिटारियों में संग्रह करें, या किसी प्रबन्ध सूत्र में गूँथे।" इसी सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पंक्तियां भी उल्लेखनीय हैं:—"यदि प्रबन्ध काव्य वनस्थली है तो मुक्तक है एक चुना हुआ गुलदस्ता।" स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० पदमसिंह शर्मा ने मुक्तक के सम्बन्ध में कहा है:—"मुक्तक रचना एक मीठी रोटी के समान है, उसे चाहे जहां से काटें मीठी ही मिलेगी।" मुक्तक रचना की विशेषता अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने में ही है। प्रबन्ध सूत्र में पिरोए जाने पर मुक्तक अपनी चमक-दमक खो बैठता है। इसीलिए अभिनव गुप्ताचार्य ने मुक्तक रचना के सम्बन्ध में कहा है:—

"पूर्वापर निरपेक्षा हि येन रस चर्वणा क्रियते तन्मुक्तकम्।"

प्रबन्ध काव्य के समान मुक्तक का क्षेत्र विस्तृत नहीं होता इसीलिए मुक्तककार को गागर-सागर भरने का प्रयत्न करना पड़ता है। गीतिरचनाओं के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनमें कवि कल्पना तथा संगीत का समन्वय करता हुआ अपने विषय में दूसरों से कुछ कहता है। भावना के क्षेत्र में रमा रहने वाला मानव आरम्भ से ही सङ्गीत-प्रेमी रहा है।

भावना की चरम सीमा पर पहुँच कर उसकी वाणी सङ्गीतमय हो उठी, वहीं से गीतिकाव्य का श्रीगणेश समझना चाहिये। आदि

भावना की चरम सीमा ही सङ्गीत है

कवि ने क्रौञ्चवध से दुःखी होकर निषाद को शाप दिया था। उसमें भी आदि कवि भावना की चरम सीमा पर पहुँच जाने के कारण संगीतमय हो उठे थे। पुत्रशोक से व्यथित आदम का हृदय भी उसके शोक के साथ संगीतमय होकर छल-छला पड़ा था। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि गीतिकाव्य का प्रारम्भ कब हुआ ?

प्रारम्भ में हमें गीतिकाव्य, स्तुतिगीत अथवा पूजा-गीतों के रूप में मिलता है। स्तुति-गीतों में मानव-हृदय देवता के सामने आत्मनिवेदन के रूप में संगीतमय हो उठा था।

देवताओं की पूजा की भावना के अतिरिक्त वीर-पूजा की भावना को भी हम गीतिकाव्य का मूल कह सकते हैं। पहले इस प्रकार की रचनाएं लोकगीतों के रूप में की जाती थीं, साहित्यिक-रूप इन्हें बाद में मिला। गीतिकाव्य भावनाप्रधान होता है; साथ ही संगीतमय होने के कारण उसमें प्रभावोत्पादकता भी अधिक होती है। इसी कारण विश्व-साहित्य में गीतिकाव्य का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। गीतिकाव्य में कवि के व्यक्तित्व की छाप अधिक मात्रा में होती है। उसके एक-एक शब्द में कवि का व्यक्तित्व बोल उठता है।

गीतिकाव्य को हम प्रगीत मुक्तक भी कह सकते हैं; क्योंकि यह मुक्तक रचनाओं की तरह अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। अंग्रेजी में ऐसी रचनाएं Lyric कहलाती हैं। लीरिक शब्द का अर्थ है वीणा। लीरिक से अभिप्राय ऐसी रचनाओं से है जो गायी भी जा सकती हों।

गीतिकाव्य का स्वरूप

साधारणतः गीतकाव्य दो रूपों में मिलते हैं—एक लोकगीतों के रूप में और दूसरा कलागीतों के रूप में। लोकगीतों से हमारा

गीतों की सृष्टि

कलागीतों की सृष्टि हुई। यही कलागीत गीति-काव्य कहलाते हैं। लोकगीतों का प्राचीनतम रूप हमें ग्राम्यगीतों में मिलता है।

ग्राम्यगीतों का प्रधान विषय प्रेम रहा है। संयोग तथा वियोग दोनों का ही सुन्दर तथा सरस वर्णन हमें ग्राम्यगीतों में मिलता है। अधिकांश ग्राम्यगीत संयोग तथा वियोग, शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। ग्राम्यगीतों में कलापक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष प्रधान रहता है। उदाहरणार्थ देखियेः—

"आधि राति बीति गयी वतियां नियाई राति चितियां।
बारह बरस का सनेहिया जोरत मुर्गा बोलई॥
तोखेऊं मैं मुर्गा के ठोर गटइया मरोखेऊं।
मुर्गा काहे किहेउ भिनुसारत पियहि वतायउ॥"

[आधी रात बातों ही बातों में बीत गई। बारह वर्ष के प्रेम को एक करने में सारी रात बीत गई। इतने में मुर्गा बांग देने लगा।

स्त्री ने कहा:- हे मुर्गे! मैं तुम्हारी चोंच तोड़ डालूंगी, तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूंगी। तुमने भोर क्यों किया और प्रियतम को क्यों बतलाया कि सवेरा हो गया।]

ग्राम्यगीतों में हमारे दैनिक जीवन के मार्मिक चित्र होते हैं इसमें सन्देह नहीं।

अतः हम इन ग्राम्यगीतों को कलागीतों का मूल कह सकते हैं। गीतों का संसार कवि के स्वप्नों द्वारा निर्मित होता है। कवि प्रेमी और पागल यह तीनों ही सदा स्वप्न देखा करते हैं। इनके गीतों में उनके इन्हीं स्वप्नों का चित्रण होता है। स्वप्नों की भांति कवियों के गीतों में भी भविष्य का चित्रण रहता है। इन गीतों में अतीत के

सुखों का करुणाक्रन्दन तथा भविष्य की आशाओं का वर्णन रहता है। नरेन्द्र जी की "भावी पत्नी" शीर्षक रचना में इसका सुन्दर उदाहरण देखिये:—

"सम्मुख बैठ, सुमुखि कल्पों तक,
एक दूसरे को देखेंगे।
लोचन होंगे कभी सिन्धु से,
कभी सिन्धु में मीन बनेंगे॥
जब तुम थक कर कभी कहोगी,
श्रान्ति हरूंगी अब जीवन धन।
तुम्हें प्यार से भर बाहों में,
अंक लगा लूंगा कोमल तन॥"

कवि क्या चाहता है? उसकी अभिलाषाएं क्या हैं? इनका दिग्दर्शन भी वह अपने गीतों में कराता है। भक्त कवि रसखान के इस सवैये में हमें उसकी अभिलाषाओं का चारुचित्र देखिये:—

"मानुस हौं तो वही रसखान, बसौं बृज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धरो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करो, मिलि कालिन्दीकूल कदम्ब की डारन॥"

इसी प्रकार इन पंक्तियों में भारतीय आत्मा की भव्य भावनाएँ भी द्रष्टव्य हैं:—

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥

मुझे तोड़ लेना बन माली उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥"

निन्दा तथा व्यंग प्रधानता भी लोक-गीतों में रही है। हमारे यहाँ भी किसी लालची बनिये अथवा पेटू ब्राह्मण को लेकर इस प्रकार की रचनाएँ बहुत की गयीं। नेमी कवि के भड़ौवे इसी श्रेणी में आते हैं। विदेशी भाषाओं में शोक-गीत भी अधिक मात्रा में मिलते हैं पर हमारे यहां शोक-गीतों का अभाव सा है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ मृत्यु को एक प्रकार का परिवर्तन माना गया है।

अंगरेजी में गीति काव्य के निम्न भेद किये गये हैं:—

(१) सानेट (Sonnet) अर्थात् चतुर्दशपदी (२) ओड (Ode) अर्थात् सम्बोधन गीत (३) ऐलिजी (Elegy) अर्थात् शोक गीत (४) सेटाइर (Satire) अर्थात् व्यंग गीत (५) रिफ्लेक्टिव (Reflective) अर्थात् विचारात्मक (६) उपदेशात्मक (Diadactic) इनमें सानेट में आकार की प्रधानता है शेष में विषय की।

तात्पर्य कहने का यह है कि गीतिकाव्य में जीवन का सुन्दर चित्रण होता है, हृदय की कोमलतम भावनाएँ होती हैं। इसीलिए साहित्य समीक्षकों ने गीतिकाव्य को साहित्य की अमूल्य निधि माना है।

रहस्यवाद और छायावाद

मूलवृत्ति

अनन्त काल से हमारे सामने यह प्रश्न है, मैं क्या हूं, जो मैं देखता हूं वह क्या है और जो मैं नहीं देखता वह क्या है? मनुष्य स्वभाव से कौतूहल प्रिय तथा जिज्ञासु होने के कारण अपने विषय में तथा जो कुछ वह देखता है उसके विषय में कभी उतना जिज्ञासु नहीं रहा, जितना वह उस विषय में रहा जिसे वह नहीं जानता। संसार के सभी मनुष्यों के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। इसीलिए उस अनन्त और अज्ञात शक्ति के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टि से विचार किए गये हैं। सृष्टि के आदि काल से मानव उस रहस्य-मयी शक्ति के जानने में प्रयत्नशील रहा है पर वह सफल नहीं हो सका। इसका एक मात्र कारण यही है कि वह अनन्त चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। केवल अनुमान द्वारा ही उसे जाना जा सकता है। इसीलिए रहस्यवादी कवि कबीर को कहना पड़ा है:—

गूंगे केरी सरकरा खावै औ मुसकाय।

कबीर की बात तो जाने दीजिये। उपनिषदों के ऋषि भी उसके विषय में नेति-नेति कह कर मौन हो गये। उपनिषदों

ईश्वर विषयक नेति नेति की भावना

के तत्वज्ञानी ऋषियों ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वही रहस्यवाद का मूल है। ऐसी दशा में रहस्यवाद को हम अन्तःकरण की वह प्रेरणा कह सकते हैं जो सीमित को असीम प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि वह अनन्त और अज्ञात शक्ति चर्म चक्षुओं से नहीं देखी जा सकती, क्योंकि हमारी आँखों पर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है। हमारे दृष्टिकोण भी एक जैसे नहीं हैं इसीलिए जायसी ने कहा है:—

सुन हाथी कर नाम अन्धरन टोवा धायकै
जेहि टांवा जेहि ठाम मुहमद सो तैसे कहा—

वह निर्गुण है अथवा सगुण, बस सम्बन्ध में हम पूरी तरह नहीं जान सके। जो अब तक जान सके हैं वह अपूर्ण है। इसीलिए मानस के कवि को कहना पड़ा है:—

जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

दृष्टिकोणों की भिन्नता

भिन्न-भिन्न विचार धाराओं के कारण किसी ने उसे सगुण रूप में देखा है, किसी ने निर्गुण रूप में। कल्पना पर लगा कर उड़ना चाहती है पर उस असीम तक पहुंचने में असमर्थ रहती है। उस अनन्त को जानना हमारे लिए ऐसा ही है जैसे सीपी में समुद्र का समाना।

गुरु की आवश्यकता

जिस प्रकार अबोध शिशु दीप शिखा को देखता है तो उसे कौतूहल होता है। अपना कौतूहल शान्त करने के लिए कभी-कभी वह दीप शिखा को पकड़कर हाथ भी जला लेता है। कभी चांद को अपलक नेत्रों से देखता है। माँ उसे चन्दा मामा कह कर बहला देती है। उस अनन्त और

असीम सत्ता के सम्बन्ध में न तो जिज्ञासु कुछ जान ही सकता है और न कोई उसे कुछ बता ही सकता है। प्रत्येक वस्तु वह कौतूहल पूर्वक देखता है। कभी रोता है तथा कभी हँसता है। रहस्यवादी कवि भी उस अबोध शिशु के समान है जो अपने हृदय में जिज्ञासा तथा कौतूहल को छिपाये रहता है। रहस्यवाद का उद्देश्य ही किसी छिपे हुए रहस्य का उद्‌घाटन करना है। इसीलिए रहस्यवादी प्राय: जिज्ञासु होता है। सन्त मत में गुरु का जो महत्व दिया गया है उस का कारण यही है कि गुरु ईश्वर से मिलने का मार्ग बतलाता है। रहस्यवादी कबीर कहता है:—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय॥
× × × ×
निराकार की आरसी है सद गुरु की देह।
लखा जो चाहे अलख को इनमें ही लख लेय॥

गुरु को इतना महत्व इस लिए दिया गया है कि वह जिज्ञा[सु] के सामने उस रहस्य का उद्‌घाटन करता है जिसे जानने के लि[ए] जीवात्मा सदा उत्सुक रहता है। सृष्टि के आदिम काल की प्रभा[त] बेला में ईश्वर के प्रति ऋषियों के हृदय में जो जिज्ञासा उत्पन्न हु[ई] उसका बीज था यह विशाल विश्व। चाँद की चटकीली चाँदन[ी] निर्मल नील आकाश में चमकते हुए सितारे; कल-कल छल-छ[ल] करती हुई सरिताएँ, इन सब को देख कर ऋषियों का भावुक हृ[दय] अनुभव करने लगा, अवश्य ही इस विश्व वाटिका का कोई मा[ली] है। जिसके इंगितों पर एक-एक परमाणु कार्य कर रहा है। कामायनि के कवि प्रसाद ने सृष्टि के आदि पुरुष मनु द्वारा इसी[लिए] कहलाया भी है:—

है अनन्त रमणीय कौन तुम कुछ हो ऐसा होता भान ?

भावना के आकाश पर उड़ते उड़ते जब कल्पना के पर गिर गये तो कामायनि के मनु को यों कहना पड़ाः—

हे अनन्त रमणीय कौन तुम यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता॥

संसार की अपूर्णता

इस अपूर्ण संसार में जब रहस्यवादी पूर्ण को नहीं खोज पाता तो उसे एक प्रकार की निराशा सी हो जाती है। इसीलिए वह ऐसे विश्व की कल्पना करता है। जहां शान्ति हो। रहस्यवादी कबीर के इन शब्दों में अभिव्यक्ति मिलती हैः—

साँझ परि दिन अथवयो चकवी दीनी रोय।
चल चकवे घर आपने जहँ रैन कदै ना होय॥

× × × ×

जरा मरन व्यापै नहीं मुआ न सुनिये कोय।
कबिरा चलता देसड़े जहाँ वैद्य विधाता होय॥

महादेवी के शब्दों में तो "सीमा ही लघुता का बन्धन" है। इसीलिए उस महत को इस सीमा के बन्धनों से जकड़े हुए विश्व में कैसे खोजा जा सकता है। 'बच्चन' भी यही कहते हैंः—

यह अपूर्ण संसार न मुझ को भाता,
मैं सपनों का संसार लिए फिरता हूँ।

वास्तव में निराशा उस दशा की ओर संकेत करती है, जिसमें जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है, मैं जितनी लघु हूँ, मेरा प्रिय भी उतना ही महान है। इस प्रकार एक बड़ी मजबूरी जिज्ञासु के सामने आकर खड़ी हो जाती है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस मजबूरी को इन शब्दों में व्यक्त किया हैः—

नश्वर स्वरमें कैसे गाऊँ आज अनश्वर गान।

तर्क इस सूक्ष्म सत्ता को दृश्य जगत में नहीं ला सकता। इसीलिए साधक तर्क के कण्टक पथ को छोड़ कर उस सरल मार्ग को अपनाता है जिसमें केवल भावनाओं के कोमल पुष्प बिछे हुए हैं। उस महान को केवल भावना द्वारा ही जाना जा सकता है तर्क द्वारा नही। इसीलिए कमायनि के कवि ने कहा भी है:—

सब बातों में खोज तुम्हारी रट सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श के तर्क करों के बनता छुईमुई है॥

तर्क ईश्वर से मिलने में बाधक है

सच पूछिये तो रहस्य वाद, अद्वैतवाद का दूसरा नाम है दोनों में अन्दर केवल यही है कि अद्वैतवादी चिन्तन द्वारा सत्य को और भी गहन तथा गम्भीर बना देता है। अद्वैतवादी तार्किक होने के कारण उस सत्य तक कठिनता से पहुंचता है। कविवर प्रसाद जी इसीलिए कहते हैं:—

और सत्य एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पिंजर का पाला हुआ सुआ है॥

रहस्यवादी इसीलिए कोरे बुद्धिवाद और तर्क को ईश्वर से मिलने में बाधक समझते हैं। कामायनि में मनु ने श्रद्धा से इसीलिए कहा था:—

छूकर मात्र तुम उसमें कितनी मधुधारा को ढाल रही,
सब बाहर होता जाता है स्वगत उसे मैं कर न सका।
बुद्धि तर्क के छेद हुए थे हृदय हमारा भर न सका॥

देखिये कितनी बाधा सहनी पड़ती है रहस्यवादी को। न तो वह अपने प्रिय को तर्क द्वारा ही जान सकता है न चर्म चक्षुओं द्वारा ही देख सकता है। न उसकी कल्पना और भावनाओं की उड़ान उसे

उड़ाकर वहां तक ले जा सकती है। ऐसी अवस्था में रूपकों का सहारा लेकर वह उस सूक्ष्म सत्ता को जानने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपने असीम को रूपकों द्वारा चित्रित करके रहस्यवादी समिति कर देता है। अतः हम कह सकते हैं कि असीम को लौकिक रूपकों द्वारा सीमित करना ही रहस्यवाद का उद्देश्य है। इन रूपकों की सहायता से रहस्यवादी उस अनन्त से अनेक सम्बन्ध जोड़ता है। उसे माता, पिता, पति, पत्नी आदि रूपों में देखता है कभी वह कहता है:—

हरि जननी मैं बालक तोरा।

तो कभी कहता है:—

दुल्हिन गावे मंगलाचार हम घर आए राम भरतार।

कवि अपनी वाणी द्वारा उस रहस्य का उद्घाटन करना चाहता है, पर निराशा निशा का अन्धकार उसे ऊपर नहीं जाने देता। उसकी स्थिति और भी विकट हो जाती है, जब उसके मन की चंचलता तथा विश्व का आकर्षण लक्ष की ओर से खींच कर पथ भ्रष्टकर देते हैं। इसीलिए रहस्यवादी सन्त कवियों ने कंचन और कामिनि को भरपेट गालियां दी हैं। कबीर कहते हैं:—

चलो चलो सब कोई कहे पहुंचा बिरला कोय।
इक कंचन इक कामिनि दुर्गम घाटी दोय॥

वेदान्तियों ने भी कामिनी तथा कांचन को ईश्वर से मिलने में बाधक माना है। शंकर ने तो यहाँ तक कह डाला है:—

द्वारं किमेकम् न कस्य नारी।

एकेश्वरवादी मुसलमान कवियों ने भी यही माना है। 'दाग़' कहते हैं:—

कभी जो मस्जिद में वोह शोख परिज़ाद आया।
फिर न अल्लाह के बन्दों को खुदा याद आया॥

इस प्रकार बहुत सी बाधाओं को पार करता हुआ जीवात्मा अन्त में उस अनन्त को प्राप्त कर लेता है। यही रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था है। यह वह अवस्था है जिसमें अंश अंशी से मिल कर पूर्णता प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार जल की बूंद अनन्त सागर में विलीन होकर अपना अस्तित्व खो देती है। महात्मा सुन्दरदास जी ने इस अवस्था को इन शब्दों में चित्रित किया है:—

नोन पूतरी सिन्धु में थाह लेन कुँ जाई।
सुन्दर थाह न पावई बीच हि मे घुर जाइ॥

महाकवि 'गालिब' भी यही कहते हैं:—

इशरते क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना॥

बिना अपना अस्तित्व खोये अंश, अंशी को प्राप्त नहीं कर सकता। वेदान्त में इसी अंश और अंशी की एकता को भृङ्गी कीट न्याय कहा है। रहस्य-वादी कबीर ने इस अंशी और अंश के सम्मिलन का वर्णन इस प्रकार किया है:—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

रहस्यवादी जिस अनन्त का सन्देश देता है उसके देश तक हमारी पहुँच बहुत कठिन है। इसीलिए रहस्यवादी की रहस्यमयी वाणी का रहस्य सर्व साधारण के लिए अत्यन्त कठिन है क्योंकि वह जिस असीम के रहस्य का उद्घाटन करना चाहता है उसे हमारी लघुता जानने में असमर्थ होती है। फिर है भी तो वह वस्तु जिसके विषय में कहा गया है:—

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

साधक की सफलता रहस्यवादी अपनी अटपटी वाणी द्वारा जिस रहस्यमय की चर्चा करता है यदि वह समझ में आ जाय तो वह रहस्य ही क्या हुआ ? वास्तव में सच्चा रहस्यवाद है भी वही, जो अन्त तक रहस्यमय बना रहे। उस असीम के रहस्य को कौन जान सकता है जिसके विषय में यही निर्णय नहीं हो सका कि वह सगुण है या निर्गुण। सगुण, निर्गुण की बात तो जाने दीजिये। नास्तिकों को तो उसके अस्तित्व तक में सन्देह है। निर्गुण और सगुण के विषय को लेकर तार्किकों तथा बुद्धिवादियों ने ईश्वर को झगड़े की वस्तु बना दिया। इसीलिए रहस्यवादी कबीर को कहना पड़ाः—

निरगुन सरगुन ते परे तहाँ हमारे राम।

छायावाद और रहस्य में कोई विशेष अन्तर नहीं, दोनों ही एक लक्ष्य तक पहुँचने के अलग-अलग मार्ग हैं। छायावादी रहस्य-

छायावाद वादियों की तरह उस अनन्त सत्ता को अन्तर जगत् में खोजने का काम नहीं करता। उसे वह इसी दृश्य जगत् में चर्म चक्षुओं द्वारा देखता है। मूर्त में अमूर्त का दर्शन करके उस रहस्यमयी सत्ता को दृश्य जगत् मे ले आता है। इसी कारण वह रहस्यमय उसके लिए रहस्य की वस्तु नहीं रह जाती। कबीर आदि सन्त कवियों की तरह, वैष्णव कवि अनन्त की खोज में भटकते नहीं फिरे, और न उन्होंने माया को ही पानी पी-पी कर कोसा। जो विश्व रहस्यवादियों के ईश्वर से मिलने मे बाधक है, वही छायावादियों के लिए परमेश्वर से मिलने में सहायक है। इसीलिए छायावादियों को रहस्यवादियों की तरह खयाली दुनिया में भटकने की जरूरत नहीं पड़ी। विश्व को छायावादी बन्धन नहीं मानते। इसीलिए वे मुक्ति की भी आवश्यकता नहीं समझते। वैष्णव कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने कहा भी हैः—

जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते॥

सन्तों के शुष्क ज्ञान की अपेक्षा, वैष्णवों की भक्ति-भावना सरस तथा कोमल है। निराकार और निर्विकार को उन्होंने चर्म-चक्षुओं का विषय ही नहीं बनाया, बल्कि सांसारिक मनुष्यों के समान उसे यह कहते हुए भी सुना:—

घन घमण्ड गरजत नभ घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा।

निर्गुण पन्थ की शुष्कता के सम्बन्ध में भी सूर ने खूब चुटकियां ली हैं। वह कहते हैं:—

अविगत गति कछु कहत न आवे
जो गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही पावे
परम स्वादु सबही जु निरन्तर अमिट तोष उपजावे
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावे
रूप रेख बिन जोति जुगत बिन निरालम्ब मन चकित धावे
सब बिधि अगम बिचार रहितातें 'सूर' सगुन लीला पद गावे

सूर, मीरा आदि भावुक भक्तों ने अयोध्या और मथुरा की भव्य भूमि में उस असीम को कलोलें करते देखा जो सन्तों के हृदय की वस्तु बना हुआ है। वर्तमान छायावाद और वैष्णवों के छायावाद में यही अन्तर है। आज का छायावादी निर्गुण को देव-प्रतिमाओं में नहीं देखता और न उसे राम तथा कृष्ण के रूप में देखता है। वह देखता है उसे विशाल प्रकृति की विशाल रङ्गभूमि में तथा शोषित जनता के करुण-क्रन्दन में। युग ने हमारा दृष्टिकोण बहुत बदल दिया है। इसीलिए आज के कवियों की भावनाएँ देवमन्दिरों की संकुचित भित्तियों तक ही सीमित नहीं रहीं, बल्कि विशाल विश्व का एक-एक परमाणु उनकी अनुभूति का विषय बना हुआ है।

कथा-साहित्य की रूपरेखा

कथा साहित्य का प्रारम्भ

हमारा जीवन ही एक कहानी है। जिस दिन हम जन्म लेते हैं उसी दिन से उस कहानी का श्रीगणेश होता है। जब तक हमारी जीवन-लीला समाप्त नहीं हो जाती तब तक वह कहानी चलती रहती है। जिस दिन मृत्यु अपने आँचल से हमारा जीवन-प्रदीप बुझा देती है तभी वह कहानी समाप्त होती है। हमारा जीवन ही नहीं प्रत्युत सारा संसार ही एक कहानी है। जिस दिन परमेश्वर ने इस विश्व की रचना की उसी दिन से यह कहानी चली आती है। पता नहीं इस कहानी का अन्त कब होगा? इसे कौन जाने?

हमारे जीवन के क्रियाकलापों अथवा घटनाओं की समष्टि का नाम ही कहानी है। यह सारा विश्व ही घटनाओं और क्रियाकलापों से भरा पड़ा है। मिट्टी के छोटे से ढेले के पीछे कोई न कोई कहानी छिपी पड़ी है। लेखक में प्रतिभा होना चाहिये। कहानियों की कमी नहीं। संसार में कहानियाँ बिखरी पड़ी हैं।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपना अनुभव दूसरों को बताना चाहता है तथा दूसरों के अनुभव से स्वयं लाभ उठाना चाहता है। इसीलिए वह अपने सुख दुःख की गाथा दूसरों को सुनाता है तथा दूसरों की सुख-दुःख की गाथा स्वयं सुनता है। अपनी राम-कहानी दूसरों को सुनाकर उसका चित्त शान्त हो जाता है। उसे लगता है, मानो उसके हृदय से भार उतर गया हो। सहानुभूति प्राप्त करने की भावना उससे ऐसा करती है। जिस प्रकार वह अपने सुख-दुःख की गाथा नमक-मिरच लगा कर दूसरों को सुनाता है, उसी प्रकार वह दूसरों की रामकहानी भी सुनना चाहता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। वह जहाँ दूसरों की सहानुभूति चाहता है वहाँ दूसरों के सुख-दुःख में भी स्वयं सम्मिलित होना चाहता है। मानव की इसी भावना को हम कहानी का बीज कह सकते हैं।

घरों में बूढ़ी दादियाँ अथवा नानियाँ जब काम-काज से छुट्टी पाती हैं तो उनके नन्हे-नन्हे नाती-पोते उन्हें चारों ओर से घेर लेते हैं और कहते हैं—नानी कहानी सुना, दादी कहानी सुना। इस प्रकार नानियों तथा दादियों द्वारा कहानी सुनाने की प्रथा कब से चली, यह बताना अत्यन्त कठिन है। नानी की कहानियों का कोश समाप्त हो जाता है पर नाती की माँग पूरी नहीं होती। इसी लिए बेचारी नानी को कहानी गढ़नी पड़ती है। नानी के नाती कौतूहल प्रिय तथा जिज्ञासु हैं। कौतूहल-प्रिय होने के कारण ही वे 'चन्दामामा' को एकटक नेत्रों से देखते हैं, दीपशिखा को पकड़ने के लिए दौड़ते हैं। नानी के जिज्ञासु नाती को कौतूहलवर्द्धक कहानियाँ ही अधिक प्रिय हैं। नानी अब क्या कहेगी, अब क्या होगा, आगे क्या होने वाला है। इस जिज्ञासा को लेकर नानी का नाती बड़ी उत्सुकता से

साथ नानी की कहानी सुनता है। इसीलिए नई-नई कहानी सुनने वाले कौतुहल-प्रिय नाती को नानी कभी-कभी परियों की दुनिया में भी ले जाती है। कभी कभी वह उसे अलिफ-लैला के उड़न खटोलनों पर बैठा कर आसमान की सैर कराती है तो कभी बैताल-पच्चीसी के काठ के घोड़े पर चढ़ाती है। जंगल की लोमड़ी, शेर, खरगोश, ये सब नानी की कहानी के विषय बन जाते हैं। उसकी कहानी का क्षेत्र संसार तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि वह अपने नाती और पोतों के साथ सूर्यलोक तथा चन्द्रलोक की यात्रा भी कर आती है। सच पूछिये तो नानी की दुनिया बड़ी ही अद्भुत तथा अनोखी है। विज्ञान उस दुनियाँ तक पहुँच सकेगा या नहीं, यह कौन बता सकता है?

कथा-साहित्य का वर्गीकरण

एक-दूसरे के दुःख से स्वयं परिचित होकर तथा अपनी राम-कहानी दूसरों को सुनाकर हम दूसरों के लिए कहानी बन जाते हैं और दूसरे हमारे लिए। अतः हम कथा-साहित्य को दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) उत्तम पुरुषात्मक (२) अन्य पुरुषात्मक। अपने सुख-दुःख की गाथा दूसरों को सुनाने से उत्तम पुरुषात्मक कहानियों का सूत्रपात हुआ। उत्तम पुरुषात्मक कहानियों में केवल "मैं" की प्रधानता होती है। दूसरों की कहानी से अपने सम्बन्धियों को परिचित कराने से अन्य पुरुषात्मक कहानियों की सृष्टि हुई। अन्य पुरुषात्मक कहानियों में केवल "वह" की प्रधानता होती है। वर्तमान युग में उपर्युक्त दो प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त तीसरी प्रकार की कहानियाँ भी प्रचलित हैं। यह कहानियाँ पत्रों तथा डायरियों के रूप में लिखी जाती हैं।

आकार भेद से हम कथा-साहित्य को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक वे कथाएं जिनका कलेवर छोटा होता है, दूसरी वे

उपन्यास और कहानी

जिनका कलेवर बड़ा होता है। छोटी कथा को कहानी या आख्यायिका कहते हैं और बड़ी को उपन्यास। अतः हम कह सकते हैं कि कहानी जीवन में होने वाली घटनाओं का क्रमबद्ध तथा सीमित वर्णन है जो रोचक होने के कारण हमारी उत्सुकता को निरन्तर बढ़ाता रहता है। इसी प्रकार उपन्यास भी जीवन में होने वाली घटनाओं का क्रमबद्ध तथा विस्तृत वर्णन है जो रोचक होने के कारण हमारी उत्सुकता को कम नहीं होने देता। कहानी तथा उपन्यास में यही अन्तर है कि कहानी का क्षेत्र संकुचित और उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत होता है। केवल घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन ही किसी कथानक को उपन्यास अथवा कहानी नहीं बना सकता। घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन तो इतिहास मे भी होता है। समाचार पत्रों में भी हम देश-विदेश की घटनाओं को पढ़ते रहते हैं। क्या इतने से ही इन्हें उपन्यास अथवा कहानी की श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है? उपन्यास तथा कहानी में कथा कहने के प्रकार का रोचक तथा जिज्ञासावर्द्धक होना नितान्त आवश्यक है। इसी रोचकता तथा जिज्ञासावर्द्धक के कारण ही कहानी तथा उपन्यास में काव्यमयता आती है। इसी के प्रभाव से इन्हें स्थायी साहित्य में स्थान मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि कथानक ही उपन्यास तथा कहानी का प्राण है। उसका चित्ताकर्षक वर्णन किये बिना लेखक अपनी रचना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।

महाकाव्य तथा वीरगीत विषयप्रधान साहित्य में आते हैं। उपन्यास तथा कहानी उत्तमपुरुषात्मक तथा अन्यपुरुषात्मक दोनों होने के कारण विषयप्रधान भी होते हैं और विषयीप्रधान भी होते हैं। नाटक दृश्य-काव्य होने के कारण कथा साहित्य में अपना स्थान सबसे

अलग रखता है। कथा-साहित्य की श्रेणी में स्थान पाने पर भी नाटक अपनी पृथक् सत्ता रखता है।

महाकाव्य तथा वीरगीतों को कथा-साहित्य की श्रेणी में स्थान दिया जाता है। पर वे भी साहित्य शास्त्र के विशेष नियमों में बंधे होने के कारण उपन्यास तथा कहानियों की श्रेणी में नहीं आते।

कथा साहित्य के तत्व प्रबन्धकाव्य, उपन्यास, कहानी तथा नाटक कथाप्रधान होने के कारण एक प्रकार के उपादानों से गठित होते हैं। इसीलिए इनके मूलतत्व भी एक से होते हैं। इन मूल-तत्वों के नाम ये हैं:—

(१) कथानक।
(२) पात्र।
(३) सम्वाद।
(४) देशकाल।
(५) शैली।
(६) उद्देश्य।

(१) **कथानक**—कथानक से अभिप्राय उन क्रिया-कलापों के क्रमवद्ध तथा रोचक वर्णन से है जिनको लेकर कथाप्रसंग की सृष्टि की जाती है। इसके तीन भेद हो सकते हैं—(अ) प्रख्यात (आ) उत्पाद्य (इ) मिश्रित।

(अ) **प्रख्यात**—जिसका आधार इतिहास या परम्परागत जन-श्रुति हो। ऐतिहासिक उपन्यास, ऐतिहासिक नाटक तथा महाकाव्य इसी श्रेणी में आते हैं।

(आ) **उत्पाद्य**—उस कथानक को कहते हैं जिसे कवि, नाटककार, या उपन्यासकार, अपनी कल्पना से गढ़ता है। वर्तमान युग का अधिकांश कथा साहित्य इसी श्रेणी में आता है।

(इ) मिश्रित—जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों क मिश्रण होता है।

(२) पात्र—पात्र से अभिप्राय उन प्राणियों से है जिनके क्रियाकलापों द्वारा कथानक की रचना होती है अथवा जो घटना-चक्र में भाग लेते हैं।

(३) सम्वाद या कथोपकथन—कथानक को चलाने के लिए पात्रों में जो वार्तालाप अथवा सम्वाद होता है उसे कथोपकथन कहते हैं।

(४) देशकाल—देशकाल का सम्बन्ध उन परिस्थितिओं से हैं जिनके द्वारा घटनाचक्र चलता है।

(५) शैली—वर्णन करने के उस ढंग का नाम है जिसके द्वारा लेखक कथा में रोचकता उत्पन्न करता है।

(६) उद्देश्य—जिस फल अथवा परिणाम का दिग्दर्शन कथानक के द्वारा लेखक कराना चाहता है। इसे कथाभाग का उपसंहार भी कह सकते हैं।

कहानी, उपन्यास तथा नाटक में अन्तर

ऐसी अवस्था में जब कहानी, उपन्यास, नाटक तथा प्रबन्ध काव्य के तत्व एक से हैं तो फिर उनमें क्या अन्तर है? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यह तो हम कह ही आये हैं कि कहानी का कलेवर उपन्यास की अपेक्षा छोटा होता है तथा उपन्यास कहानी की अपेक्षा विस्तृत होता है। छोटी कहानियों की रचना इस उद्देश्य से की जाती है कि थोड़े समय में लोग उन्हें पढ़ लें। जैसे जैसे जीवन संग्राम की जटिलता बढ़ रही है वैसे-वैसे कहानियों की लोकप्रियता भी बढ़ती जा रही है। इसीलिए कहानी कला के मर्मज्ञों का कथन है कि कुछ दिनों में छोटी कहानियां ही उपन्यासों का स्थान ग्रहण कर लेंगी। उपन्यास का क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसके

समस्त चरित्र चित्रों को गहराई के साथ देखना सर्वसाधारण की शक्ति के बाहर हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जैसे-जैसे पाठक आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पिछली बातें भी भूलता जाता है। उपन्यासकार को यह छूट्टी है कि वह उसे चाहे जितना बड़ा बना दे पर कहानी लेखक को यह सुविधा नहीं है। मुक्तक और प्रबंधकाव्य में जो अन्तर है वही कहानी और उपन्यास में भी समझना चाहिये। जिस प्रकार मुक्तक का क्षेत्र सीमित और प्रबंधकाव्य का क्षेत्र विस्तृत है इसी प्रकार कहानी का क्षेत्र सीमित और उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत है। प्रबधकाव्य और उपन्यास में लेखक को इतना ही ध्यान रखना पड़ता है कि कथा की धारा न टूटे। मुक्तक काव्य तथा कहानी में ऐसा नहीं होता। यहाँ तो जो कुछ भी लिखा जाता है बड़े उत्तर दायित्व के साथ लिखा जाता है। प्रबंधकाव्य और उपन्यास की कथा भूमि में लेखक का पर्वत के समान दोष भी राई बन जाता है। इसीलिए स्थूल दर्शक पाठक की दृष्टि वहाँ नहीं पहुंचती। कहानी में लेखक का छोटे से छोटा दोष भी पाठकों की आँखों में खटकने लगता है। इसीलिए उपन्यास की अपेक्षा कहानी लिखना कठिन है।

प्रबन्धकाव्य, उपन्यास और कहानी में तो स्वयं कथाकार पात्रों की ओर से उनके सम्बन्ध में कुछ भी कह सकता है—किसी के प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकता है, किसी के प्रति घृणा, परन्तु नाटक में उसे ऐसा अवसर नहीं मिलता। नाटक रंगमंच की वस्तु है। ऐसी अवस्था में उसका रंगमंच के नियमों में आबद्ध होना आवश्यक है। प्रबन्धकाव्य, उपन्यास और कहानी की रंगभूमि उन्हीं में होती है। अतः वे दृश्य-जगत् की वस्तु नहीं होते। नाटक दृश्यकाव्य होने के कारण चर्म-चक्षुओं की वस्तु है। इसीलिए उसमें काव्यमयता की पूर्णता तभी होती है जब उसका अभिनय रंगमंच पर किया जाता है।

दृश्यकाव्य होने के कारण नाटक के गुण-दोष सभी के सामने प्रत्यक्ष होकर आ जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि उपन्यास की अपेक्षा कहानी की और कहानी की अपेक्षा नाटक की रचना कठिन है। इसके अतिरिक्त नाटक में एक विशेषता और है, वह यह कि उसमें कहानी, सङ्गीत और काव्य सभी का समन्वय होता है। उपन्यास तथा कहानी में केवल कथा ही होती है।

कथानक के सम्बन्ध में कहानी कला के मर्मज्ञों का कथन है कि उच्चकोटि का कथन वह है जिसमें कौतूहल और जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ते जांय। आगे क्या हुआ? अब क्या होगा? ये प्रश्न पाठक को उलझन में डाल दें। यह उलझन तब तक बढ़ती जाय जब तक कथा समाप्त न हो। कथा समाप्त होने से पूर्व पाठक यह न जान सके कि कथा की समाप्ति कब, कहाँ और कैसे होगी? उसमें ऐसा प्रवाह होना चाहिये कि जिसमें बह कर पाठक अपनी भूख-प्यास तथा दैनिक आवश्यकताओं को भी भूल जाय।

वर्णन की दृष्टि से कथा-प्रसग को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) घटना-प्रधान (२) चरित्र-प्रधान।

कथानक

घटना-प्रधान कथानकों में घटनाओं का तांता-सा बंधा रहता है। एक घटना के उपरान्त दूसरी, और दूसरी के बाद तीसरी विशेष घात-प्रतिघात के साथ चलती है। चरित्र-चित्रण-प्रधान कथानक में जीवन का चित्रण सुचारु रूप से किया जाता है। घटनाओं और चरित्रचित्रण के बिना कोई कहानी अथवा कोई उपन्यास गढ़ देना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। घटना-प्रधान उपन्यास अथवा कहानी में भी चरित्र चित्रण किसी न किसी रूप में रहता ही

है। इसी प्रकार चरित्र चित्रण प्रधान उपन्यासों में भी घटनाओं का समावेश रहता है। जीवन की सभी परिस्थितियों का मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन करना ही चरित्र-प्रधान उपन्यासों का उद्देश्य है। मनोवैज्ञानिक चित्रण की विशेषता यह है कि उसमें पात्रों का चरित्र चित्र इस प्रकार अंकित किया जाय कि पाठक पात्रों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझने लगें। सभी मनुष्यों की मनोवृत्तियां एक ही सी नहीं होतीं, उनमें आकाश-पाताल का अन्तर होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जिस समाज का वह अंग है उसमें देवता भी हैं और राक्षस भी। राजा, रंक, वीर, कायर, सज्जन तथा दुर्जन सभी श्रेणी के प्राणी इस विशाल मानव समाज में हम पाते हैं और यही प्राणी हमारे कथानक के पात्र बनते हैं। इसीलिए इन सब के चरित्र चित्र अपनी लेखनी द्वारा हमें प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इस कार्य को करने के लिए लेखक में निरीक्षण शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। जब तक लेखक में किसी वस्तु को गहराई तक देखने की शक्ति न होगी तब तक वह चरित्र चित्रण करने में सफल नहीं हो सकेगा। सफल चरित्र चित्रण के लिए आवश्यक है कि पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सके। किसी पात्र का चरित्र चित्र प्रस्तुत करते समय इन बातों पर ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है।

(१) अवस्था (२) रूप-रंग तथा आकृति (३) वेशभूषा (४) जातीय तथा पैतृक गुण (५) उसकी कल्पनाएँ तथा उसके स्वप्न उसकी दिनचर्या (७) उसके कार्य (८) उसका व्यक्तित्व तथा प्रभाव (९) समाज में उसकी स्थिति।

चरित्र चित्रण करना साधारण कार्य नहीं है। जिस प्रकार किसी चित्र का निर्माण करते समय चित्रकार को खूब समझ-बूझ कर सावधानी के साथ अपनी तूलिका चलानी पड़ती है उसी प्रकार

उपन्यासकार को भी बहुत सतर्क होकर लेखनी उठानी पड़ती है। सफल चरित्र चित्र प्रस्तुत करने की विशेषता यह है कि जिसका चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है उसका रूप रंग, उसकी आकृति, उसका स्वभाव सभी कुछ दृश्य जगत् की वस्तु बन जाय। इसका एक उदाहरण लीजियेः—

"घण्टी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली-मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारती और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती, कभी अँगड़ाई लेती तो कभी अपनी उंगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहे चला करतीं। तिस पर भी घण्टी एक बाल विधवा है।"

—जयशङ्कर 'प्रसाद' (कंकाल)

चरित्र चित्रण में लेखक को सब से अधिक सहायता घटनाओं तथा वार्तालाप के द्वारा मिलती है। इसका भी एक उदाहरण देखियेः—

उदयभानु—तो मैं क्या तुम्हारा गुलाम हूं ?

कल्याणी—तो क्या मैं तुम्हारी लौण्डी हूं ?

उदयभानु—ऐसे मर्द और होंगे जो औरतों के इशारों पर नाचते हैं।

कल्याणी—तो ऐसी स्त्रियाँ भी और होंगी जो मर्दों की जूतियाँ सहा करती हैं।

प्रेमचन्द (निर्मला)

इसी प्रकार घटनाओं तथा परिस्थितियों द्वारा किया गया चरित्र चित्रण देखिये।—

"सुमन की दशा उस लोभी डाक्टर की सी थी, जो अपने किसी रोगी मित्र को देखने जाता है और फ़ीस के रुपये अपने हाथ से नहीं लेता।"

मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया चरित्र चित्रण अत्यन्त सफल तथा मार्मिक होता है। इस प्रकार के चरित्र चित्रण में अन्तः वृत्तियों का बहुत सुन्दर तथा सजीव चित्रण किया जाता है। नीचे इसका भी एक उदाहरण देखिये:—

"जिसे अपने घर सूखी रोटियां भी मयस्सर नहीं वह भी बरात में जाकर 'तानाशाह' बन बैठता है। तेल खुशबूदार नहीं, साबुन टके सेर, कहार बात नहीं सुनते, लालटेनें धुआं देती हैं, कुर्सियों में खटमल हैं, चारपायियाँ ढीली हैं, जनवासे की जगह हवादार नहीं, ऐसी ऐसी हजारों शिकायतें होती रहती हैं। यदि यह मौका न मिला तो और ऐब निकाल लिये जायेंगे। भई, यह तेल तो रण्डियों के लगाने लायक है, हमें तो सादा तेल चाहिये। जनाब यह साबुन नहीं भेजा है, अपनी अमीरी की शान दिखलायी है। यह कहार नहीं, यमदूत है, जब देखिये सर पर सवार। लालटेनें ऐसी हैं कि आँखें चमकने लगती हैं। अगर दस–पाँच दिन ऐसी रोशनी में बैठना पड़े तो आंखें फूट जांय। जनवासा क्या है अभागे का भाग्य है, जिस पर चारों तरफ से झोंके आते रहते हैं।"

प्रेमचन्द (निर्मला)

उपर्युक्त अवतरण में बरातियों की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर विश्लेषण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। कथानक को सुन्दर बनाने के लिए कहानी समाप्त करने पर ध्यानपूर्वक देखिये:—

कथानक की रूप-रेखा

(१) उसमें कोई बात छूट तो नहीं गयी।

(२) ऐसी बातें तो उसमें नहीं हैं जो परस्पर विरोधी हों।

(३) अनावश्यक बातों को लेकर पृष्ट तो नहीं रंगे गये।

(४) क्या उसमें वर्णित घटनाएँ शृंखला की कड़ियों की तरह एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं ?

(५) क्या घटनाक्रम ऐसा रखा गया है जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हुई हो अथवा उसकी कोई घटना असम्भव तो नहीं जान पड़ती ?

(६) क्या साधारण से साधारण बातों को लेखक रोचक बनाने में सफल हुआ ?

(७) क्या कहानी का अन्त वर्णित घटनाक्रम के अनुकूल हुआ है ?

श्रेष्ठ कहानी अथवा उपन्यास में इन बातों का होना आवश्यक है :—

(१) शीर्षक ऐसा हो कि पढ़ते ही पाठक कहानी पढ़ने के लिए विवश हो जाय।

(२) कथानक की उठान सुन्दर तथा जिज्ञासावर्द्धक हो।

(३) घटनाक्रम स्वाभाविक तथा परिस्थितियों के अनुकूल हो।

(४) घटनाओं का वर्णन इतना रोचक तथा चित्ताकर्षक हो कि पढ़ते समय पाठकों को जान पड़े मानो घटनाएँ उन्हीं के सामने हो रही हों तथा जीवन की समस्त परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराने वाली हों।

(५) घटनाएँ मर्म पर आघात करने वाली हों तथा जीवन की समस्त परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराने वाली हों।

(६) कथानक के मार्मिक स्थलों का ही वर्णन करना चाहिये।

(७) जब तक कहानी पढ़कर समाप्त न कर दी जाय तब तक पाठकों को यह पता न चले कि कहानी का अन्त कब और कैसे होगा ?

(८) चरित्र-चित्रण स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक होना चाहिये।

(९) भाषा पात्रों की स्थिति के अनुसार हो।

(१०) सम्बाद इतने सुन्दर तथा रोचक हों कि पढ़ते समय नाटकीयता का आनन्द आने लगे।

(११) वर्णनशैली रोचक तथा जिज्ञासा को बढ़ाने वाली हो।

(१२) लेखक के शब्द-संगठन तथा वाक्य—विन्यास में वातावरण का शाब्दिक चित्र प्रस्तुत करने की पूरी क्षमता हो।

(१३) कथानक में अन्तर्द्वन्द तथा घटनाओं का घात-प्रतिघात होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कथानक जीवन की व्याख्या है।

(१४) पात्रों में जीवन के भले-बुरे चित्रों को प्रस्तुत करने की पूरी शक्ति होनी चाहिये।

(१५) कहानी का अन्त मर्मस्पर्शी होना चाहिये। जिस प्रकार जंजीर की कड़ियाँ आदि और अन्त की कड़ियों को जोड़ती है उसी प्रकार उसका कथानक भी उसके आदि और अन्त को जोड़ने वाला होना चाहिये।

(१६) कहानी के कथानक में चलतापन तथा प्रवाह होना आवश्यक है।

कुछ ध्यान देने योग्य बातें

कुछ ऐसे दोष भी हैं जिनके कारण कहानी का सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। सफल लेखक के लिए आवश्यक है कि वह इन दोषों से सदा बचता रहे। किसी कहानी में यह बातें नहीं होनी चाहिये।

(१) असम्भव तथा अस्वाभाविक घटनाएं नहीं होनी चाहियें।

(२) कहानी ऐसी न हो कि प्रारम्भ में ही पाठक को उसके

परिणाम का पता चल जाय। यदि ऐसा हुआ तो पाठक उसे बीच ही में छोड़ देगा।

(३) व्यर्थ की बातों को इतना तूल नहीं देना चाहिये जिससे पाठक उन्हें पढ़ते-पढ़ते उकता जाय।

(४) कोई बात ऐसी नहीं होनी चाहिये, जिसका लेखक को प्रत्यक्ष अनुभव न हो अथवा जिसकी जानकारी वह पाठकों को न करा सकता हो।

उच्चकोटि का चरित्र-चित्रण कथानक में जान डाल देता है। चरित्र-चित्रण के बिना कथानक निष्प्राण जान पड़ता है। चरित्र-चित्रण के दो भेद हो सकते हैं—एक वह जिसका सम्बन्ध दृश्यजगत् से होता है। दूसरा वह जिसका सम्बन्ध अन्तर्जगत से है। पहले प्रकार का चरित्र-चित्रण स्थिति, घटनाओं तथा वातावरण द्वारा किया जाता है; दूसरे प्रकार के चरित्र-चित्रण में मानसिक भावनाओं का अति सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया जाता है। जब हम भावना की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब हमारे हृदय में सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों का एक सङ्घर्ष होने लगता है। हम इस सङ्घर्ष को अन्तर्द्वन्द कह सकते हैं। सफल लेखक वही है जो इस प्रकार के अन्तर्द्वन्दों का चित्रण योग्यतापूर्वक कर सके। प्रबन्धकाव्य, उपन्यास, तथा कहानियों में घटनाओं का सजीव चित्रण करना नाटक की अपेक्षा कठिन है। इसका कारण है नाटक चर्म-चक्षुओं का विषय है। उपन्यास, कहानी और प्रबन्धकाव्य में घटनाएं प्रत्यक्ष नहीं दिखाई जातीं, बल्कि उनका वर्णन किया जाता है। नाटक में यह घटनाएं रंगभूमि पर प्रत्यक्ष दिखायी जाती हैं। वास्तव में कुशल कलाकार वही है जो प्रत्येक घटना को इस प्रकार चित्रित करे कि उसका हर पहलू पाठकों के सामने बोलती हुई तस्वीर बन

जाय। पाठक, पाठक न रहे बल्कि दर्शक बनकर उन सब घटनाओं को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखने लगे जिनका वर्णन कथाकार कर रहा है। उपन्यास तथा कहानी मे जब कथाकार किसी चरित्र की समीक्षा करता है तो उसे ध्यान रखना चाहिये कि मै जिस चरित्र-चित्र की समीक्षा कर रहा हूं वह इतना न बढ़ जाय कि व्याख्यान का रूप धारण करले। ऐसा करने से लेखक, लेखक न रह कर उपदेशक बन जायगा। अच्छा तो यह होगा कि लेखक अपने पात्रो के विषय मे खुब कुछ न कहे बल्कि उनके क्रिया-कलापो को इस रूप से चित्रित करे कि पाठक उनके सम्बन्ध मे स्वय सम्मति बना ले। इसके लिए लेखक को मनोविज्ञान का ज्ञाता होना परमावश्यक है। उसकी कथा के पात्र लुच्चे-लफगे से लेकर साधु-महात्मा तक हो सकते है। राजा से लेकर रक तक उसकी पहुच हो सकती है। पुराने जमाने की देवियो से लेकर आज की सिविलाइज्ड लेडियों तक के चित्र उसे प्रस्तुत करने पड़ते है। अतः कथाकार का अनुभव विस्तृत होना चाहिए। यदि उसका अनुभव विस्तृत न होगा तो वह जीवन की व्याख्या क्या खाक करेगा।

यह कोई जरूरी नही कि लुच्चे-लफंगो का चित्रण करने के लिए हम भी उनका अनुकरण करने लगे। हमारे सामने विशाल विश्व है; हमें ऐसे दो-एक शोहदे टकरा ही जाते है। ऐसी अवस्था मे यदि हम लुच्चे-लफंगों का चरित्र चित्रण करने के लिए उन्हीं की संगति करने लगें तो हमारी बुद्धि का दिवालियापन इससे अधिक और क्या होगा। हमे पापचित्र अधिक मिलते है और पुण्य चित्र कम। अच्छा तो यह हो कि हम विश्व में पापचित्रो को न खोजें। हमें चाहिये कि हम पुण्यचित्रों की सृष्टि करें। यदि हम इस कार्य में सफल हो सके तो हम विश्व को वह विभूति दे जायेगे जो उसे वाल्मिकि, कालिदास और भवभूति दे गये।

कथानक की उठान

कहानी का प्रारम्भ तथा अन्त मार्मिक होना चाहिये। प्रायः कहानियाँ तीन प्रकार से प्रारम्भ की जाती हैं— (१) सम्वाद अथवा कथोपकथन से, (२) वर्णन से, (३) घटना से ।

सम्बाद से प्रारम्भ होने वाली कहानी का उदाहरण देखिये:—

"बन्दी" ।

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर। चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है, यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ ! धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"हाँ !"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा, स्नेह का असम्भावित आलिंगन ! दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये।

दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया। सहसा उस स्त्री से कहा:—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

('आकाश-दीप'—प्रसाद)

अब वर्णन द्वारा प्रारम्भ होने वाली कहानी का उदाहरण लीजिये:—

"दिल्ली की गलियाँ, दिल्ली निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतङ्क जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचण्ड क्रोध किसी भाँति शान्त ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।"

('वज्रपात'—प्रेमचन्द)

इसीप्रकार घटना द्वारा प्रारम्भ होने वाली कहानी का भी उदाहरण लीजिये :—

"उस दिन शनिवार की दोपहर में जोन्स ने निश्चय किया कि वह अपनी पत्नी को हत्या करेगा।"

कहानी प्रारम्भ करने का यह तीसरा प्रकार सर्वोत्तम है। पश्चिम में घटना द्वारा प्रारम्भ होने वाली कहानियाँ बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। इस प्रकार की कहानी का प्रारम्भ करते समय कोई मार्मिक घटना लेनी चाहिये।

समस्त कथा साहित्य अपने भीतर इस विशाल विश्व के भले-बुरे चित्रों को छिपाये रहता है। जिस प्रकार यह विश्व पापी,

एक छोटी सी दुनियाँ

पुण्यात्मा, राजा, रङ्क, पण्डित, मूर्ख, दानी तथा कृपण से भरा हुआ है उसी प्रकार कथासाहित्य की छोटी सी दुनियाँ भी अपने भीतर भले, बुरे प्राणियों को छिपाये रहती है। इसीलिए संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने कथासाहित्य के निर्माताओं को ब्रह्मा तक कह डाला है। वे कहते हैं:—

"अपारे काव्य संसारे, कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं, तथेदं परिवर्तते॥"

साहित्य में निबन्धों का स्थान

साहित्य में निबन्ध का स्थान भी गद्य के अन्तर्गत आता है। निबन्ध शब्द का अर्थ है बन्धा हुआ, जिसका अभिप्राय है नपे-तुले शब्दों में किसी व्यक्ति, वस्तु या किसी घटना विशेष पर अपने विचारों को लिपिबद्ध करना। निबंध को हम एक प्रकार का स्वगत भाषण कह सकते हैं। निबन्ध का विषय कुछ भी हो सकता है। छोटे से छोटे विषय से लेकर गम्भींर से गम्भीर विषयों पर निबन्ध-रचना की जा सकती है। निबन्धों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे जिनमें किसी विषय पर बहुत संक्षिप्त तथा सरसरी दृष्टि से विचार किया गया हो; दूसरे वे जिन पर किसी भी विषय पर विस्तारपूर्वक विषद विवेचन किया गया हो। ऐसे निबन्ध प्रबन्ध कहलाते हैं।

वास्तव में निबन्ध रचना अत्यन्त कठिन कार्य है। लेखक के पास ऐसे साधन कम होते हैं जिनके द्वारा वह अपने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके। न तो वह उपन्यासकार अथवा कहानीकार की तरह कोई रोचक कथा लेकर सामने आता है और

न वह किसी कवि की तरह लम्बी चौड़ी उड़ानों द्वारा आसमान के तारे तोड़ सकता है। उसके पास कवियों जैसी संगीतमय स्वर लहरी भी तो नहीं है। उसे बड़ी सावधानी के साथ सीधी-सादी तथा रोचक भाषा में अपने विचार दूसरों के सामने रखने पड़ते हैं। शुष्क से शुष्क विषय को इतना रोचक बनाना पड़ता है कि पढ़ने वाले मुग्ध हो जायें। यदि वह इस कार्य में जरा भी चूका तो सारा किया-कराया गुड़-गोबर हो जायगा।

एक उपन्यासकार अथवा नाटककार अपनी रचना में पात्रों से पृथक् रहते हुए भी उनसे हिला मिला रहता है। वह पात्रों के विविध रूपों में हमारे सामने आता है। कभी-कभी वह अपने ही विचारों को अपने पात्रों के ही मुख से कहलाता है।

उपन्यास तथा कहानियों में तो वह अपने पात्रों की मण्डली का एक सदस्य ही बन जाता है तथा उनके सुख दुःख में खुल कर भाग लेता है। पर बेचारे निबन्ध-लेखक के लिए यह सुगमता कहाँ? वह केवल अपने ही आप अपने विचार हमारे सामने रखता है; किसी दूसरे की आड़ नहीं लेता। उसके निबन्धों को पढ़ कर ऐसा जान पड़ता है मानो कोई व्यक्ति अपने ही विचार अपने आपको सुना रहा हो। अतः हम निबन्ध को व्यक्तित्वप्रधान रचना कह सकते हैं।

निबन्ध के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें जो विचार प्रकट किये गये हों वह सूत्रबद्ध हों। शृङ्खला की कड़ियों की तरह एक विचार दूसरे विचार की कड़ी से जुड़ा हुआ हो। जितने विचार निबन्ध में प्रकट किये गये हैं उन पर लेखक का पूरा उत्तरदायित्व हो क्योंकि निबन्ध का असली उद्देश्य है दूसरों को अपने अध्ययन से प्रभावित करना। निबन्ध में विचारों का क्रमबद्ध होना नितान्त आवश्यक है। बिखरे तथा उलझे विचारों के संग्रहमात्र को हम

निबन्ध नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह क
अत्यन्त महत्वपूर्ण है:—

"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष नहीं कहा
सकता है। जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा दबा कर ठूसे ग
और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड के लिए हो।"

किसी भी सफल निबन्धकार के लिये यह नितान्त आवश्य
कि वह जिस भी विषय का वर्णन करे अधिकारपूर्वक करे। ऐसा
हो सकता जब उसकी निरीक्षण शक्ति इतनी प्रखर हो कि वह
विषय के भीतर घुसती चली जाय। जिसकी निरीक्षण शक्ति जि
प्रखर होगी वह उतना ही निबन्ध-लेखन के कार्य में सफल होगा।
तो प्रत्येक कवि तथा लेखक के लिए निरीक्षण-शक्ति का
आवश्यक है, पर एक निबन्ध-लेखक के लिए निरीक्षण-शक्ति का अ
उसकी सफलता में सदा बाधक रहता है। अस्तु, जिस निबन्ध ले
में निरीक्षण शक्ति की कमी होगी वह अपने कार्य में कभी सफ
ही नहीं सकेगा। एक सफल निबन्ध लेखक तो वैज्ञानिक की
सत्य को कुरेद-कुरेद कर हमारे सामने रखता है। वैज्ञानिक के
निबन्ध लेखक के सत्य में अन्तर केवल इतना ही है कि वैज्ञानि
भी कहता है उसमें केवल उसका चिन्तन ही होता है, पर निबन्ध-ले
के कथन में चिन्तन के साथ मनन भी होता है। उसमें हम कभी
पक्ष की प्रधानता पाते हैं और कभी बुद्धिपक्ष की। कवि, उपन्यास
कहानी लेखक तथा नाटककार में बुद्धिपक्ष तथा हृदयपक्ष का सम
होता है। इनकी रचनाओं में बुद्धिपक्ष हमेशा पीछे रहता है। वैज्ञा
के कथन में बुद्धिपक्ष, हृदयपक्ष से आगे बढ़ जाता है। निबन्ध में ब
पक्ष और हृदयपक्ष में प्रतिद्वन्दता होती है; ऐसा सभी प्रकार के नि
में नहीं होता। भावात्मक निबन्धों में, जहाँ निबन्धकार निबन्ध

रह कर एक गद्यकाव्यकार के रूप में हमारे सामने आता है। वहां तो उसमें केवल हृदयपक्ष की प्रधानता रहती है।

किसी भी निबन्धकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने निबन्धरूपी प्रासाद को तैयार करने से पूर्व एक इञ्जीनियर की तरह उसकी रूपरेखा अथवा पृष्ठभूमि तैयार करले। इस पृष्ठभूमि को तैयार करते समय उसे अपने निबन्ध को निम्न चार भागोंमें बांटना पड़ेगा:— (१) शीर्षक (२) आरम्भ (३) मध्य (४) अन्त अथवा उपसंहार।

उच्चकोटि का निबन्ध वही हो सकता है जो कहानी अथवा उपन्यास की तरह हमारी उत्सुकता निरन्तर बढ़ाता रहे। अतः निबन्ध का प्रारम्भ इस ढङ्ग से होना चाहिये कि पढ़ने वाला उसकी ओर एकदम आकर्षित हो जाय। निबन्ध का प्रारम्भ करते समय निम्न बातों पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक हैः—

(१) शीर्षक निबन्ध का महत्वपूर्ण अङ्ग है। शीर्षक शब्द का अर्थ ही सिर है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि शरीर के समस्त अंगों में जो स्थान सिर का है वही स्थान निबन्ध रचना में शीर्षक का है। न केवल निबन्धों में ही, बल्कि कहानी, नाटक तथा उपन्यास में भी इसका स्थान महत्वपूर्ण है। शीर्षकविहीन रचनाएँ उस कटे हुए धड़ के समान जान पड़ती हैं जिसमें देखने वालों के लिए न शोभा है न आकर्षण। अतः निबन्ध के शीर्षक का चित्ताकर्षक होना नितान्त आवश्यक है।

(२) जिस विषय का वर्णन किया जाय उसकी परिभाषा।

(३) किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि की सूक्ति से निबन्ध का श्रीगणेश करना।

(४) किसी रोचक कहानी अथवा घटना द्वारा निबन्ध का प्रारम्भ करना।

(५) किसी प्रभावोत्पादक वाक्य द्वारा निबन्ध का प्रारम्भ करना।

निबन्ध का मध्य भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है क्योंकि प्रारम्भ तो निबन्ध की भूमिका होती है और अन्तिम परिशिष्ट अथवा उपसंहार। विषय प्रतिपादन तथा विवेचन का अवसर लेखक को इसी भाग में मिलता है। इसी भाग में वह अपने विचारों को ठूंस-ठूंस कर भरता है तथा अपने अध्ययन की छाप पाठकों पर लगाने में प्रयत्नशील होता है। यदि शीर्षक निबन्ध रूपी पुरुष का सिर है, भूमिका भुजाएँ हैं तो मध्य भाग को हम पेट कहेंगे। जिस प्रकार पेट द्वारा पचा हुआ अन्न सारे शरीर को पुष्ट करता है उसी प्रकार निबन्ध के मध्य भाग में जिन विचारों का प्रतिपादन किया जाता है, वे निबन्धरूपी शरीर को परिपुष्ट करते हैं।

जिस प्रकार हमारा पेट आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं पचा सकता, उसी प्रकार निबन्ध के मध्य भाग में भी अनावश्यक बातें नहीं समा सकतीं। इसीलिए लेखक का कर्तव्य है कि वह कोई अनावश्यक तथा व्यर्थ की बात न कहे।

निबन्ध का अन्त भी उसका एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। इस भाग का वही स्थान है जो शरीर में पैरों का। जिस प्रकार शरीर बिना पैरों के अपनी गति तथा प्रगति दोनों खो देता है, उसी प्रकार इस भाग के बिना निबन्ध भी लँगड़े लूले के समान हो जाता है। अतः यहाँ लेखक को विशेष सावधानी से काम लेना चाहिये। हमें उसकी समाप्ति इस प्रकार करनी चाहिये कि उसके अन्तिम वाक्य निरन्तर पाठकों के मस्तिष्क में गूंजते रहें।

वास्तव में निबन्ध से ही किसी लेखक के अध्ययन तथा वास्तविक योग्यता का पता चलता है। लेखक को अपने व्यक्तित्व के

प्रकाशन का जितना अवसर निबन्ध से मिलता है उतना उसे न नाटक में मिलता है न उपन्यास में, और न कहानी में। उसे हम किसी विषय पर लेखक विशेष के विचारों का सुन्दर सङ्कलन कह सकते हैं। अतः निरीक्षण के साथ ही साथ निबन्ध लेख में अध्ययन तथा चिन्तन का होना भी नितान्त आवश्यक है। उसके अध्ययन तथा चिन्तन का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, वह अपने पाठक को उतना ही प्रभावित कर सकेगा। अत: किसी भी सफल लेखक के लिए नितान्त आवश्यक है कि ऐसे किसी विषय पर लेखनी न उठावे, जिसमें उसकी गति न हो। जिस भी विषय पर वह कुछ लिखे उसका पूर्ण रूप से अध्ययन तथा मनन करके ही अपनी लेखनी उठावे। किसी विषय पर लिखे हुए अपने निबन्ध को बिना सोचे-समझे, यों ही न प्रकाशित करादे। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र जी चटर्जी ने तो नये लेखकों को सावधान करते हुए बहुत ही मार्मिक शब्द कहे हैं। उनका कथन है:—

"जो लिखो उसे वैसे ही प्रकाशित न करदो। कुछ दिनों तक उसे डाले रखो। कुछ दिनों बाद उसका संशोधन करो। तब तुम्हें दीख पड़ेगा कि तुम्हारे लेख में कितने दोष हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि को लिख कर दो एक वर्ष डाल रख कर फिर संशोधन करने से वे विशेष उत्कर्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु जो लोग सामूहिक साहित्य की सेवा करते हैं उनके लिए यह नियम नहीं है। इसी कारण लेखक के लिए सामयिक साहित्य अवनति का कारण हुआ करता है।"*

निबन्ध का उद्देश्य न तो शब्दों का चमचमाता जाल बिछा कर पाठकों को उलझाना है, और न व्यर्थ का ज्ञान छांट कर अपनी विद्वता का ढोल पीटना। बल्कि निबन्ध का उद्देश्य है, अपने अध्ययन

तथा अनुभव से दूसरों को परिचित करना। इस उद्देश्य की सफलता में ही निबन्धकार की सफलता है। यदि वह अपने में देश या जाति की भलाई करने की क्षमता पाता है अथवा वह समझता है कि उसमें किसी सौन्दर्य की सृष्टि करने की क्षमता है तो उसे चाहिये कि इस क्षेत्र में पदार्पण करे। मुख से निकली हुई बात तो हवा में फैल कर रह जाती है, पर लेखनी से निकला हुआ एक-एक शब्द पत्थर की लकीर बन जाता है। इसलिए एक सफल निबन्ध-लेखक के लिए आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखे सोच-समझ कर लिखे क्योंकि उसके एक-एक शब्द पर उसके व्यक्तित्व की छाप लगी रहती है।

विषयों की विविधता की दृष्टि से हम निबन्धों को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) वर्णनात्मक (Descript ve)
(२) विवरणात्मक (Narrative)
३) विचारात्मक (Reflective)
(४) भावात्मक (Emotional)

वर्णात्मक निबन्धों में वस्तु को स्थिर रूप देकर उसका विषद वर्णन किया जाता है। इसका एक उदाहरण देखिये:—

"चारों ओर से नीलाकाश को खींच कर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रूपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चांदी की सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण दिखायी न देता था। जान पड़ता था, किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रंग में तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।" —श्रीमती महादेवी वर्मा

वर्णनात्मक निबन्ध में वस्तु को उसके गतिशील रूप में दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है। वर्णनात्मक निबन्ध का सम्बन्ध देश से होता है और विवरणात्मक निबन्ध का सम्बन्ध काल से। यही दोनों में अन्तर है। विवरणात्मक निबन्ध का एक उदाहरण लीजिये:—

"हम लोग रेलगाड़ी में सवार हो गये। सारी गाड़ी पठानों से भरी हुई थी। किसी का कद छः फीट से कम नहीं था। ऊँचे, लम्बे, विशाल-शरीर, लालमुँह, घनी आँखें और मैले लम्बे बाल, जिन पर ढीली-ढाली पगड़ी बाँधी हुई थी। पठान हमारे लिए कोई नयी चीज न थी। सारे सीमाप्रान्त का चक्कर लगा चुकने के कारण पठान एक साधारण आदमी ज्ञात होता था। उसकी कर्कश ध्वनि हमारे लिए सामान्य हो चुकी थी। हम खैबर देखने को उत्सुक थे। वह खैबर जहाँ केवल रेल और मोटर की सड़कों पर ब्रिटिश लोगों की हुकूमत है, जहाँ के मैदान ब्रिटिश-लाल रंग से रंगे हुए नहीं, जहाँ के आदमी अंगरेजों की विश्वविजयिनी सेनाओं की कोई परवाह नहीं करते।" (सत्यकेतु विद्यालङ्कार— खैबरदर्रा)

विचारात्मक निबन्धों में मस्तिष्क प्रधान रहता है। केवल तर्क ही इनका आधार होता है। विचारात्मक निबन्धों की प्रायः दो शैलियाँ होती हैं। (१) समास शैली—जिसमें विचारों को सूत्र रूप में लिखा जाता है। व्यास-शैली—जिसमें विचारों का प्रकाशन विस्तारपूर्वक किया जाता है। दोनों शैलियों के पृथक्-पृथक् उदाहरण लीजिये:—

समास शैली का उदाहरण—

"दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा

की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गयी है। करुणा से क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार व अनुमान से उत्पन्न होता है।"

(रामचन्द्र शुक्ल— करुणा)

व्यास-शैली का उदाहरण लीलिये:—

"मनोभावों को हृदयस्पर्शी बनाने के लिए अलङ्कारों की योजना की जाती है। किसी वस्तु की सुन्दरता, विशालता और उच्चता आदि को जब सादृश्य से प्रकाशित किया जाता है तो प्रतीति स्पष्ट और आकर्षक हो जाती है। सादृश्यमूलक उपमा, रूपक आदि अलंकारों का स्वभाव इसी प्रकार का है। सादृश्य के अतिरिक्त वस्तु के वाह्य और आभ्यन्तर सामर्थ्य को भी साथ ही प्रकट करने वाले अलंकार भाव को कहीं अधिक मनोरम बनाते हैं।"

(काव्य के मनोभाव —पं ईश्वरचन्द्र शर्मा)

भावात्मक निबन्धों में केवल हृदयपक्ष की प्रधानता होती है। ऐसे निबन्धों में लेखक का उद्देश्य केवल सौन्दर्य सृष्टि तथा व्याख्या करना ही होता है। भावात्मक निबन्धों की दो शैलियाँ होती हैं:— (१) धारात्मक शैली (२) विक्षेप शैली। धारात्मक शैली में लेखक के भावों का प्रवाह नदी की धारा की तरह निरन्तर चलता रहता है। विक्षेप शैली में यह प्रवाह कहीं मन्द, कहीं तीव्र हो जाता है। इस प्रकार की शैली में एक प्रकार के उन्माद की अवस्था पायी जाती है। दोनों शैलियों के पृथक्-पृथक् उदाहरण देखिये:—

धारात्मक शैली का उदाहरण—

"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहता है और निश्चय करता रहता है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूं; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूं, योग-सिद्धि द्वारा सूर्य और तारागणों के गूढ़ भेदों को जान सकता हूं, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूं। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न संसार ही की ओर, न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूंक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।" (सरदार पूर्णसिंह)

विक्षेपशैली का उदाहरण—

"हे मृगलांछन! पाप छिपाये नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गये। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हां, मुंह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष कलङ्क मरने पर भी न छूटेगा। मदिरापान क्या बट्टे खाते जायगा? वियोगियों को जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरा सी कालिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुंह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएं की हैं।"

(वियोगी हरि—साहित्य विहार)

भावात्मक विक्षेपशैली के अन्तर्गत गद्यकाव्य के नाम से प्रसिद्ध रचनाएं भी आ जाती हैं। हिन्दी में श्री चतुरसेन शास्त्री का अन्तस्तल, रायकृष्णदास की साधना इसी शैली में लिखी हुई हैं।

साहित्य में जीवनचरित्रों का स्थान

साहित्य में जीवन-चरित्रों का स्थान विशेष महत्व रखता है। हम उन्हें उपन्यास तथा कहानियों के समान गद्यकाव्य की श्रेणी में रख सकते हैं। स्थायी साहित्य में जीवन-चरित्र भी अपना स्थान रखते हैं क्योंकि मानव-जीवन कभी नहीं बदलता, दुनिया बदल जाती है, पर उसकी गतिविधि में कोई अन्तर नहीं आता। इस सम्बन्ध में 'बच्चन' की यह पंक्तियाँ भुलायी नहीं जा सकतीं—

मानव-जीवन क्या है ?

"जग बदलेगा किन्तु न जीवन"

इस बदलती हुई दुनिया के साथ युग बदल जाता है, परन्तु जीवन की आवश्यकतायें वही रहती हैं। जीवन के सुख-दुःख की समस्यायें वैसी ही जटिल रहती हैं। यही कारण है कि जीवन-चरित्र पुराना होने पर भी पुराना नहीं होता। वह हमेशा नया रहता है। युग बीत जाने पर भी वाल्मीकि के राम, हमारे लिए नये हैं। व्यास के कृष्ण में भी हम कोई पुरानापन नहीं पाते हैं। उनका जीवन जिन-जिन परिस्थितियों में से गुजरता था, आज भी वे परिस्थितियाँ

हमारे सामने हैं। भविष्य को उज्ज्वल देखने की लालसा मनुष्य में कल भी थी और आज भी है। कल का मानव भी अपने वर्तमान से उसी प्रकार असन्तुष्ट था, जिस प्रकार आज का मानव। मानव की अगली पीढ़ियां भी वर्तमान से अपने पूर्वजों की तरह असन्तुष्ट रहेंगी। यह नैसर्गिक नियम है जो बदला नहीं जा सकता। वर्तमान के प्रति असन्तोष की भावना ने ही मानव की गति में प्रगति दी है। इस असन्तोष की भावना से ही वह अनादि काल से जिन्दगी की लड़ाई बहादुरी के साथ लड़ता आया है।

मानव जीवन-संग्राम का वीर सैनिक रहा है, उससे अगली पीढ़ियों के लिए कुछ न कुछ सन्देश अवश्य मिलेगा। ऐसी दशा में साहित्य के क्षेत्र में जीवन-चरित्रों का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। हमारे यहां उच्चकोटि का जीवन चरित्र सम्बन्धी साहित्य कम है, इसका कारण है हमारे पूर्वजों की लोकपक्ष के प्रति उदासीनता। गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवियों ने भी इस सम्बन्ध में साफ कह डाला—

जीवन में अगली पीढ़ियों के लिए सन्देश होता है

"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुन लागि गिरा पछताना॥"

हमारे साहित्य में जिन महापुरुषों की गौरवगाथा का गान हुआ भी है, उन्हें कलाकारों ने मनुष्यता से इतना उठा दिया है कि वे मनुष्य न रह कर देवता की कोटि में आ गये। राम-कृष्ण तथा तथागत इसी रूप में हमारे सामने आते हैं। इसीलिए हम इन गौरव-गाथाओं में यथार्थता का अभाव पाते हैं। जीवन-चरित्र का यथार्थ से दूर रहना उसे जीवन-चरित्र से गिरा देता है। फिर वह जीवन-चरित्र

न रह कर काव्य की श्रेणी में आ जाता है। मनुष्य में देवत्व देखना अथवा दिखलाना कवि का काम है, जीवन-चरित्र लेखक का नहीं।

जीवन में एकरसता नहीं होती

मनुष्य देवता नहीं है। इसीलिए उसके समस्त कार्य सराहनीय तथा प्रशंसनीय नहीं हो सकते। वह अपने जीवन में सभी प्रकार के उतार-चढ़ाव देखता है। इतना होने पर भी वह अपने उन कार्यों की आलोचना नहीं सुनना चाहता जो उसे समाज की दृष्टि में गिराते हैं, अथवा जिन्हें वह दूसरों की आँखों में धूल झोंक कर करता है। एक जीवन-चरित्र के लेखक को बड़ी ईमानदारी के साथ मनुष्य की उन बुराइयों पर भी रोशनी डालनी पड़ती है जिन्हें वह आवश्यक समझता है। पर यह उससे होना कठिन है क्योंकि वह हमेशा यथार्थ से दूर भागता है।

उसकी यह कठिनता उस समय और भी बढ़ जाती है, जब वह अपनी राम कहानी दूसरों को सुनाता है। यदि वह केवल अपने चरित्र की उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करे जो उसे समाज में ऊँचा उठाती है तो उसमें जीवन की वह यथार्थता न होगी जो जीवन-चरित्र में होनी आवश्यक है।

जीवन-चरित्र के प्रकार

उपन्यास तथा कहानियों की तरह जीवन-चरित्रों को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक विषयी-प्रधान, जिनमें लेखक स्वयं अपने विषय में कुछ कहता है। दूसरे विषय-प्रधान जिनमें वह आपबीती न कह कर जगबीती कहता है, अर्थात् दूसरों के विषय में कुछ कहता है। इनमें हम विषयी प्रधान जीवन-चरित्रों को उत्तम पुरुषात्मक और विषय प्रधान जीवन-चरित्रों को अन्य पुरुषात्मक कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त

पत्रों तथा डायरियों के रूप में भी जीवन-चरित्र लिखे जा सकते हैं। वास्तव में जीवन-चरित्र किसी उत्थान-पतन की ऐसी कहानी है जो रोचक होने के साथ ही साथ हमें कोई शिक्षा भी देती है। वह उस बनस्थली के समान है जिसका निर्माण प्रकृति ने स्वयं किया है। उपन्यास तथा कहानी की तुलना हम वनस्थली से नहीं कर सकते क्योंकि उसकी रचना प्रकृति स्वयं नहीं करती बल्कि माली करता है। जिस प्रकार मनुष्य ने कलाकार बनकर कलारूपी नयी सृष्टि की रचना की उसी प्रकार उसने कहानीकार तथा उपन्यासकार के रूप में अपने एक नये संसार का निर्माण किया। जिस प्रकार कठपुतली नचाने वाला सूत्रधार अपने संकेतों द्वारा कठपुतलियों के शरीर में गति उत्पन्न करता है ठीक उसी प्रकार कहानीकार तथा उपन्यासकार भी अपने पात्रों को अपने इशारों पर नचाता है। जीवन-चरित्र में यह बात नहीं होती। हम जिस व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढ़ते हैं वह लेखकों के संकेतों पर नहीं नाचता बल्कि उसे प्रकृति के इशारों पर सब काम करने पड़ते हैं।

जीवन-चरित्र उपन्यास तो नहीं होता पर उसकी वर्णनशैली अवश्य उपन्यास के समान रोचक होती है। वर्णनशैली की रोचकता ही के कारण वह स्थायी साहित्य में काम करता है। यह रोचकता उसी व्यक्ति के जीवन में आती है जिसने अपने जीवन में उत्थान और पतन दोनों देखे हों। निठल्ले, निरुद्यमी तथा आलसी मनुष्यों के हृदय में यह बात नहीं होती।

प्रभाव

किसी व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढ़ते समय हम उसके उत्थान-पतन की कहानी द्वारा जो शिक्षा प्राप्त करते हैं उसका हमारे जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। [illegible] जीवन-

चरित्र पढ़ कर हम उन दोषों तथा बुराइयों से अपने आपको बचाने का उद्योग करते हैं, जिनमें कोई मनुष्य अपनी मनुष्यता खो बैठता है। हम जीवन-चरित्रों के अध्ययन से उन गुणों को प्राप्त करने के प्रयत्नशील रहते हैं, जिनके द्वारा कोई मनुष्य सच्चे शब्दों में मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है।



साहित्य में पत्रों का स्थान

पत्र उस लिखित सन्देश को कहते हैं जिसके द्वारा हम दूसरों को अपने विषय में परिचित कराते हैं तथा दूसरों के विषय में स्वयं परिचित होते हैं। मनुष्य एक समाज-प्रिय प्राणी है, वह समाज में रह कर स्वयं एक दूसरे के सुख-दुःख से परिचित होता है, तथा अपने सुख-दुःख से दूसरों को परिचित कराता है। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानव परिवार भी एक दूसरे के निकट आता जा रहा है। देश और जाति की सीमा को पार करके धीरे-धीरे हम एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमारे सामाजिक सम्बन्ध भी विस्तृत होते जा रहे हैं। प्राचीन काल में यातायात के साधन कम होने के कारण यह विस्तृत मानव-परिवार एक दूसरे के इतने निकट नहीं था जितना अब है, ऐसी दशा में पत्र-व्यवहार इस समय में हमारे दैनिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग बन गया है।

पत्र की परिभाषा

पत्र-व्यवहार की आवश्यकता राजा से लेकर रङ्क तक को पड़ती है। इस प्रतियोगिता में मूर्ख से लेकर विद्वान् तक को सम्मिलित

जीवन का आवश्यक अङ्ग

होना पड़ता है। पत्र हमारे जीवन का एक ऐसा महत्वपूर्ण अंग है जिसके बिना हमारा कार्य चलना कठिन है। पत्र प्रायः अपने घनिष्ट सम्बन्धियों को ही लिखा जाता है। इसी लिए इनमें लेखक अपने आपको खोलकर रख देता है। वह अपने सम्बन्धी से जिसके पास वह पत्र भेजता है कोई बात नहीं छुपाता। जो भी उसे कहना होता है, खुलकर कहता है। अतः हम कह सकते हैं कि पत्र दो व्यक्तियों के जीवन के गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डालता है। समाज के सामने लोग अपने जिन गूढ रहस्यों को प्रकट करते हुए झिझकते हैं, वे पत्रों में साफ-साफ प्रकट कर दिये जाते हैं। ऐसी अवस्था में हम पत्र को किसी व्यक्ति के जीवन की बोलती हुई तस्वीर कह सकते हैं।

पत्र में व्यक्तित्व

निबन्ध की तरह पत्र भी व्यक्तित्व प्रधान होता है। इतना होने पर भी पत्र तथा निबन्ध में थोड़ा अन्तर है। निबन्ध के द्वारा लेखक अपने विचारों को सभी के सामने प्रकट करना चाहता है पर पत्र के द्वारा वह केवल गिने चुने व्यक्तियों तक ही अपने विचारों को सीमित रखना चाहता है।

जब हम अपने किसी प्रेमी को पत्र लिखते हैं तो हम अपने जीवन के गुप्त से गुप्त रहस्यों को खोलकर उसके सामने रख देते हैं।

प्रेम पत्र

हमारा प्रेमी भी दूसरों से आंखें बचाकर बड़ी सावधानी के साथ हमारे पत्र को पढ़ता है। इन प्रेम पत्रों में साधारण से साधारण बात भी बड़ी सजीव तथा चुभती हुई भाषा में व्यक्त की जाती है। इन पत्रों को लिखते समय हमारा हृदय काव्यमय हो जाता है। यही कारण है कि इन प्रेम पत्रों को पढ़कर हमारी हृदय वीणा के तार झंकृत हो जाते हैं। जिन्हें ये प्रेम पत्र

चरित्र की दृष्टि से प्रेम पत्रों को लोग भले ही बुरी दृष्टि से देखें, पर उन्हें पढ़ते समय जो आनन्द मिलता है तथा जो रसास्वादन किया जाता है वह साहित्य में भी कम मिलता है। प्रेमियों के हृदयोद्गार तथा भावों को प्रकट करने की अकृत्रिम शैली में जो सौन्दर्य हम पाते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मनुष्य प्रेम पत्रों को लिखते समय आवश्यकता से अधिक भावुक हो जाता है। वह उसके एक-एक शब्द में अपने हृदय को उडेल कर रख देता है। यही कारण है कि प्रेम पत्र कभी पुराने नहीं होते। उनमें हम एक प्रकार की काव्यमयता पाते हैं। कवियों के अत्युक्ति-पूर्ण विरह वर्णन में जीवन की वह यथार्थता नहीं होती जो हम प्रेमियों के हृदयोद्गारों में पाते हैं। यही हृदयोद्गार पत्र में काव्यमय होकर हमारे सामने आते हैं।

यदि साहित्य जीवन की व्याख्या का नाम है तो हमें प्रेमियों के इन हृदयोद्गारों को साहित्य की कोटि में अवश्य ही स्थान देना पड़ेगा। प्राचीन अथवा आर्वाचीन कवियों ने अपने हृदयोद्गारों को अपने प्रियतक तक पहुंचाने के लिये जो पत्र लिखे हैं उनमें हम एक प्रकार का अपूर्व सौन्दर्य पाते हैं। इन पत्रों के लिखने में उन्होंने कभी-कभी पद्य का भी उपयोग किया है। उनके ऐसा करने से उनमें हृदयोद्गार संगीतमय हो उठे हैं। हमारे हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास की "विनय पत्रिका" प्रसिद्ध है। गोस्वामी जी की इस प्रेम पत्रिका में पद-पद पर हमे शील की जो अभिव्यंजना मिलती है उसमें उनका कवित्व और भी निखर गया है। विश्व के इतिहास में पत्रों ने बड़ी-बड़ी क्रान्तियां की हैं। इन पत्रों द्वारा ही इतिहास प्रसिद्ध संधियाँ हुई। ऐसे पत्र इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्व रखते

है। किसी प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी को ऐतिहासिक खोज करते समय इस प्रकार का कोई पुराना पत्र मिल जाता है तो उसे उस समय अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। वह उस पत्र के द्वारा इतिहास की बहुत सी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है।

कवि की पहुँच सब स्थानों पर तथा सब कालों में होती है। इतिहास मे जिन पत्रों का उल्लेख मात्र मिलता है वह उन्हें भी अपनी कल्पना की सहायता से लिख डालता है। वे पत्र कवि की लेखनी द्वारा लिखे जाने पर साहित्य के शृङ्गार बन जाते हैं। कविवर मैथिलीशरण की पत्रावली इसका अच्छा उदाहरण है।

पत्र की श्रेष्ठता

पत्र की श्रेष्ठता इसी में है कि दूर रहने वाला पाठक उससे उतना ही प्रभावित हो जितना कि समीप रहने वाला वार्तालाप से प्रभावित होता है। ऐसे पत्रों का लेखक अपना व्यक्तित्व उड़ेल देता है। इसका कारण यह होता है कि पत्र-लेखक पत्र लिखते समय कभी यह नहीं सोचता कि जिन व्यक्तियों को उसने पत्र लिखे हैं उनके अतिरिक्त उन्हें कोई दूसरा भी पढ़ सकता है।

वार्तालाप में व्यर्थ का उत्तर-प्रत्युत्तर भी होता है, किन्तु पत्र इन सब अनर्गल तथा व्यर्थ की बातों से रहित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि पत्र जीवन की वह सरल तथा मार्मिक व्याख्या है जिसमें केवल व्यक्तित्व की ही प्रधानता होती है। वास्तव में ऐसे ही पत्र साहित्य की कोटि में आते हैं। वे पत्र जिनमें कृत्रिमता की ही प्रधानता होती है, जो वास्तविकता से बहुत दूर होते हैं अथवा जिनमें लेखक अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में असमर्थ रहता है साहित्य की कोटि में नहीं आते।

रूपक और रंग-मंच

—०—

उपदेश कलामय होकर कथा तथा कहानियों के रूप में आता है और कहानियाँ कलामय होकर नाटक के रूप में आती हैं। कथा कहानी दृश्य-जगत को हमारे सामने इस रूप में रखती है कि हम उनके चित्रों को हृदय के नेत्रों से देखते

काव्य में नाटक का स्थान

हुए भीतर ही भीतर उनका रस लेते रहें। नाटक में यह बात नहीं है, नाटक दृश्य जगत की वस्तु ही बना रहता है। इतना ही नहीं बल्कि वह उसे ऐसा कलात्मक रूप दे देता है जिससे हम उसे अपने जीवन का अंग ही समझने लगते हैं। वे घटनाएं जिनका मूल्य सर्वसाधारण की दृष्टि में कुछ नहीं होता, रंग मंच पर ऐसा रंग जमा देती हैं कि उन्हें हम सब काम धाम छोड़ कर बहुत ध्यान पूर्वक देखने लगते हैं। हमें ऐसा जान पड़ता है कि हम जो देखते रहे हैं वह सत्य है। इसलिए हम रंगमंच के पात्रों के सुख दुख को अपना ही सुख दुख समझने लगते हैं। रंगमंच पर कुशल कलाकार उन घटनाओं को जो किसी के सारे पीढ़ी जीवन में होती हैं और वर्षों तक होती रहती हैं, केवल दो तीन घण्टों में ही हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देता है। इन्हीं दो तीन घण्टों में

भगवान राम का जन्म, उनकी लीलाएँ, उनका चौदह बर्षों का बनवास तथा लंका विजय करके अयोध्या वापस लौट आना--यह सब दृश्य हम देख लेते हैं। यह रंगमंच की ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह कथा साहित्य में सर्वोपरि स्थान रखता है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि ललित कलाओं में जो स्थान काव्य का है, वही स्थान काव्यों में नाटक का है।

हम कथाएँ सुनते हैं पर उनकी घटनाओं को प्रत्यक्ष नहीं देखते। नाटक उन सब घटनाओं को हमारे चर्मचक्षुओं के सामने ले आता है। इसलिए प्राचीन साहित्याचार्यों ने नाटक को दृश्यकाव्य के अन्तर्गत माना है।

वास्तव में नाटक जिस अर्थ में प्रचलित है प्राचीन काल में उसके लिए रूपक शब्द का व्यवहार होता था। नाटक तो रूपक के दस भेदों में से पहला भेद है। रूपक शब्द का अर्थ है, रूप धारण करना। जिस प्रकार रूपक अलंकार में उपमेय, उपमान का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके अपने क्रिया कलापों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि मैं वही व्यक्ति हूँ जिसका मैंने रूप-धारण किया है। आजकल नाटक रूपक का पर्यायवाची हो गया है। इसलिए सर्व-साधारण नाटक से वे भाव ग्रहण करते हैं जो प्राचीन काल में रूपक से ग्रहण किया जाता था।

नाटक का विकास

मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है। अनुकरण द्वारा ही उसके सामाजिक जीवन का विकास होता है। हम इस अनुकरण की वृत्ति को नाटक का मूल कह सकते हैं। छोटी-छोटी लड़कियाँ गुड्डे गुड़ियों का विवाह रचाकर मातृत्व का पूर्व ही आनन्द लूट लिया करती हैं। इसी प्रकार छोटे-

छोटे बच्चे बाबू जी का हैट सिर पर रखकर अथवा नकली मूछें लगा-कर कभी-कभी अपनी माँ से कह दिया करते हैं, अम्मा मैं तो बाबूजी बन गया। यही अनुकरण की वृत्ति आगे चलकर नाटक की रचना के लिये प्रेरणा देने वाली हुई।

हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के सामने एक आदर्श रहता है और वह अपने जीवन को उसी आदर्श के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न करता है। वह अपनी जाति के महापुरुषों को अपना आदर्श बनाता है, उनके पदचिन्हों पर चलकर अपना जीवन सफल बनाता है। संसार भर की समस्त जातियाँ इसी उद्देश्य को सामने रख कर वीरों की पूजा किया करते हैं। हमारे यहाँ विजयदशमी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि त्योहार वीरपूजा के पवित्र उद्देश्य को रखकर मनाये जाते हैं। ऐसे त्योहारों पर वीरों के प्रति भक्ति भावना व्यक्त करने के लिए नृत्य तथा वादन के साथ-साथ उसका गुण कीर्तन भी होता था। यही गुण कीर्तन धीरे-धीरे नाटक के रूप में परिणित हो गया। राम-लीला तथा रासलीला इसके अच्छे उदाहरण हैं।

हमारे यहाँ ऋतुपरिवर्तन पर विशेष रूप से आमोद-प्रमोद मनाये जाते हैं। होली, वसन्त पंचमी तथा हरियाली तीज इसके अच्छे उदाहरण हैं। इन त्योहारों पर जनता नृत्य, गीत आदि द्वारा मनोरंजन करती है। ऐसे अवसरों पर हास्य-प्रधान स्वाँग भी रचे जाते हैं। प्रहसन की रचना कदाचित ऐसे ही अवसरों पर खेले जाने के लिए की गयी होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे नाट्य-कला का प्रारम्भ धार्मिक कृत्यों से होता है। पर पश्चिमी विद्वान ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि नाट्य कला का सम्बन्ध हमारे धार्मिक कृत्यों से नहीं बल्कि हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने

वाले दैनिक कृत्यों से है। इस सम्बन्ध में पिशल साहब का कथन है कि भारतियों के नाट्य-कला का प्रारम्भ कठपुतलियों के नाच से होता है। अपने मत की पुष्टि में सूत्रधार शब्द को लेकर कहते हैं कि जो व्यक्ति डारा खींचकर कठपुतलियों के शरीर में शक्ति उत्पन्न करता था, वह सूत्रधार कहलाता था और वही सूत्रधार आगे चलकर नाटक मण्डलियों का संचालक बन गया। इस मत के खण्डन में बाबू जयशङ्कर प्रसाद जी का यह कथन उल्लेखनीय है कि "कठपुतलियों से नाटक होन की सम्भावना का आधार सूत्रधार शब्द है किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिये, जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों, जा सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों को ठीक-ठीक संचालित करता है वह सूत्रधार आजकल के डायरेक्टर की तरह होता था। सम्भव है कि पटाक्षेप और जवनिका आदि सूत्र भी उसके हाथ में रहते हो।

कुछ पश्चिमीय विद्वान जिसमें "कीथ" का नाम विशेष उल्लेखनीय है, यह भी कहते हैं कि भारत ने नाटक कला यूनान से ली है। इस सम्बन्ध म यवनिका शब्द को लेकर वह अपन मत का समर्थन करते हैं। इसके खण्डन में भी स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद का मत स्मरणीय है।

"कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष के नाटकों में यवनिका यवनों अर्थात् ग्रीकों से ली गयी है किन्तु मुझे शुद्ध रूप से व्यवहृत जवनिक शब्द भी मिला है अमर कोश तथा हल्ला युद्ध में यह शब्द विद्यमान हैं। अमरकोस तथा हल्लायुद्ध दोनों ही प्रमाणिक शब्दकोश हैं। इसमें इस शब्द का रूप जवनिका है यवनिका नहीं।"

इसके अतिरिक्त यूनानी नाटक कला में और भारतीय नाटक कला में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय नाटक रंगमंच के भीतर होते थे और यूनानी नाटक रंगमंच के बाहर। भारतीय नाटकों में पर्दे होते थे और यूनानी नाटकों में पर्दे का सर्वथा अभाव होता था। दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान का (जिसको कोरस कहते हैं) प्रयोग करा दिया जाता था। यूनानी नाटक दुखान्त होते थे और भारतीय नाटक सुखान्त। ऐसी अवस्था में जबकि यूनानी नाटक-कला और भारतीय नाटक-कला में परस्पर इतना भेद पाया जाता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतीय नाटक कला यूनान की देन है। जिस समय यूनानी नाटक कला का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय भारत में नाटक कला का शास्त्रीय विवेचन भी हो चुका था।

देशकाल और परिस्थिति से नाटकों के रंगमंच में भी बहुत कुछ परिवर्तन भी कर दिया है। उनमें पहली बात यह है कि हमारे यहाँ अब दुखान्त नाटक भी खेले जाने लगे हैं। पहले हमारे साहित्य में इनका अभाव था। केवल महाकवि भास का उरुभंग ही हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसा नाटक है जिसे हम दुखान्त नाटक कह सकते हैं। भारतीय साहित्य में दुखान्त नाटकों का अभाव क्यों रहा? हम यहाँ इस पर भी थोड़ा प्रकाश डालना चाहते हैं। हमारे यहाँ काव्य का सम्बन्ध धर्म से है, धर्म मंगलमय है। अतः उसका आदि अन्त मंगलमय होना अनिवार्य है। नाटक भी काव्य है, फिर वह मंगलमय क्यों न हो। जो मंगलमय है वह दुखान्त कैसे हो सकता है?

भारतीय नाटकों का प्रारम्भ नान्दी से अथवा ईश्वर प्रार्थना से होता है और उनकी समाप्ति भरत वाक्य से होती है। इसलिए

भारतीय नाटक

नाटक के अन्त में विश्व की मंगलमय कामना के लिए किसी महापुरुष से प्रार्थना करायी जाती है या आशीर्वाद दिलाया जाता है। ऐसी अवस्था में जिनका नाट्य साहित्य मंगलमय भगवान की मंगलमय प्रार्थना से आरम्भ होता है तथा विश्व की शुभ कामना पर समाप्त होता हो वहाँ दुखान्त नाटकों की रचना कैसे हो सकती है?

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार के दृश्य दिखलाने वर्जित ठहराये हैं। जिनसे सामाजिक व्यवस्था को किसी प्रकार की हानि पहुंचे अथवा दर्शकों को किसी प्रकार का मानसिक कष्ट हो। नाटक काव्य है. काव्य का उद्देश्य है आनन्द प्रदान करना। इसीलिए आचार्यों ने ऐसे दृश्यों को दिखलाना वर्जित ठहराया है। हमारे यहाँ नाटक पाँचवाँ वेद कहा गया है। इसके साथ ही साथ नाटक की रचना का उद्देश्य होता है कि नायक द्वारा किसी फल की प्राप्ति करना। फल से अभिप्राय हमारे यहाँ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष से है। ऐसी अवस्था में जब हमारे यहाँ नाटक की रचना ही उत्तम फल प्राप्ति के लिए की जाती है तो उसका अन्तदुखमय कैसे हो सकता है? नाटक का नायक धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरललित होता है, धीरोद्धत नहीं। यही कारण है कि हमारे यहाँ मैकबेथ और हेमलेट जैसी रचना नहीं हुई। हमारे यहाँ पाप की विजय नहीं दिखायी जाती है। हमारे नाटकों में इसलिए क्रूर प्रकृति वाले, दुष्ट और नृशंस पात्र नाटक के नायक नहीं होते। इसलिए हमारा रंगमंच यूरोप की रंगमंच की तरह रक्तरञ्जित नहीं है। हम दुखों को भी सुख समझने वाले, उनको हँसते-हँसते सहना जानते हैं। इसलिए हमारे रंगमंच पर न किसी के लहू की धारा [illegible] दिखती है और न किसी के अश्रुकण। हमारा

रंगमंच दूसरे देशों की अपेक्षा यह विशेषता रखता है कि वह हमारे सामने जीवन के जिन चित्रों को रखता है, वे किसी महानफल के उद्देश्य से चित्रित किए जाते हैं। हम सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के उपासक हैं। योरप की तरह "कला, कला के लिए है" ऐसा नहीं मानते।

सत्य को नग्न करके देखना हम नहीं चाहते। हमारे यहां नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं, बल्कि उसका उद्देश्य नायक द्वारा किसी उत्तम फल को प्राप्त करना है। भारतीय नाट्यकला का उद्देश्य क्या है? इस सम्बन्ध में भरत मुनि के यह वाक्य स्मरणीय हैं।—

धर्मो धर्मं प्रवर्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनतनां दमक्रिया॥
"दुखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनां।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति"॥

साधारण रीति से हम पूर्वी तथा पश्चिमी नाटकों में यह अन्तर कर सकते हैं:—

भारतीय नाटक	पश्चिमी नाटक
(१) नायक विशिष्ट गुण सम्पन्न हो। यह गुण धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित तथा धीरोद्धत इन चार श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं। इसके अतिरिक्त नायक नाटक के अन्त में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इनमें से किसी फल को प्राप्त करता है।	(१) नायक के लिए विशिष्ट गुण सम्पन्न होने की आवश्यकता नहीं। सभी परिस्थितियों का मनुष्य नायक हो सकता है। भारतीय नाटक के नायक की तरह उसके लिए किसी फल का भोक्ता होना आवश्यक नहीं। साधारण मनुष्यों की तरह वह भी परिस्थितियों के हाथ का खिलौना होता है।

भारतीय नाटक	पश्चिमी नाटक
(२) भारतीय नाटकों में रस की प्रधानता होती है।	(२) पश्चिमी नाटकों में रस की अपेक्षा मनोविज्ञान को प्रधानता दी जाती है।
(३) भारतीय नाटकों में सङ्घर्ष केवल मध्य तक ही रहता है, अन्त में नायक की फलप्राप्ति के उपरान्त सब सङ्घर्ष समाप्त हो जाते है।	(३) पश्चिमी नाटकों में सङ्घर्ष अन्त तक होना आवश्यक है। अन्त में चरमसीमा (Climex) का रहना भी अनिवार्य होता है।
(४) भारतीय नाटकों में चरित्र की अपेक्षा सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को प्रधानता दी जाती है।	(४) पश्चिमी नाटकों में चरित्र-चित्रण ही प्रमुख है।
(५) भारतीय नाटकों का दृष्टिकोण आदर्शवाद है।	(५) पश्चिमी नाटकों का उद्देश्य यथार्थवाद है।
(६) भारतीय नाटकों में मृत्यु, राजविद्रोह आदि दिखलाने वर्जित हैं।	(६) पश्चिमी नाटकों में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं।
(७) भारतीय नाटकों में नाटक का प्रारम्भ नान्दीपाठ से तथा समाप्ति भरतवाक्य से होती है। अन्त में नायक द्वारा किसी फल की प्राप्ति भी करायी जाती है। इसलिए भारतीय नाटकोंका सुखान्त होना आवश्यक होता है।	(७) पश्चिमी नाटकों में इसका कोई नियम नहीं। वे परिस्थितियों के अनुसार सुखान्त तथा दुखान्त दोनों ही सकते हैं।

भारतीय नाटक	पश्चिमी नाटक
(८) भारतीय नाटकों म रङ्ग मंच की व्यवस्था का एक संकेत मात्र होता है।	(८) पश्चिमी नाटकों में रंगमंच की व्यवस्था वैज्ञानिक रीति से की जाती है, अर्थात रंगमंच पर दिखलायी जाने वाली बातों का वहाँ संकेतमात्र नहीं होता, बल्कि कलात्मक ढङ्ग से उनका सुन्दर विश्लेषण भी किया जाता है।
(९) भारतीय नाटकों में संकलनत्रय नहीं होता।	९) पश्चिमी नाटकों में संकलनत्रय होता है।

वास्तव में नाटक की रचना करना साधारण काम नहीं है क्योंकि योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जा सके। इसीलिए भरतमुनि ने कहा भी है—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्योऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणिविविधानि च ॥"

नाटक में सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें स्थापत्य-कला, मूर्तकला, चित्रकला, संगीत; नृत्य, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेषभूषा, सजावट आदि सभी शास्त्रों और कलाओं का सम्बन्ध होता है। कहानी, कविता, नृत्य, वादन सभी कुछ उसमें होता है।

नाटक का कथानक कवि अथवा लेखक द्वारा कहा नहीं जाता, प्रत्युत अभिनेताओं के सम्वादों, क्रिया-कलापों द्वारा रंगमंच पर प्रत्यक्ष दिखलाया जाता है। इसीलिए नाटक के कथानक में पात्रों के

व्यक्तित्व की ही प्रधानता रहती है। पात्रों के क्रियाकलापों के प्रत्यक्षीकरण द्वारा दर्शकों में रस सचार करना ही इस कला का प्रधान उद्देश्य होता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण नाटक में प्रभावोत्पादन शक्ति अन्य समस्त कलाओं से अधिक होती है। नाटक में श्रव्यकाव्य की तरह शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र प्रस्तुत नहीं किये जाते बल्कि वर्णिक घटनाओं को प्रत्यक्ष दिखाया जाता है। यही कारण है कि नाट्य कला द्वारा शिक्षित, अशिक्षित, राजा, रंक सभी रुचि के तथा श्रेणी के लोग आनन्द प्राप्त करते हैं। इस कला में मनोरंजन के साथ ही साथ शिक्षा भी मिलती है, तथा लोक-व्यवहार का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसीलिए हमारे यहाँ नाटक को पाँचवाँ वेद माना गया है।

विज्ञान ने चित्रपट को रंगमंच का स्थान देकर कई दृष्टि से इस कला का महत्व बढ़ा दिया है। आज जो पात्र रजतपट पर आता है, वह सदा के लिए अमर हो जाता है। उसके मरने पर भी हम उसका अभिनय रजतपट पर देख सकते हैं तथा कलकण्ठ से निकले सरस संगीत सुन सकते हैं।

जो दृश्य रंगमंच पर कठिनता से दिखलायें जा सकते थे, उन्हें आज रजतपट पर सुगमतापूर्वक दिखाया जा सकता है।

सागर की तरंगमालाओं, हिमालय के हिम-मण्डित शिखरों तथा सहारा के रेगिस्तानों के दृश्य आज चित्रपट पर यथार्थ रूप में दिखलाये जा सकते हैं।

एकांकी नाटक

एकाङ्की नाटकों की उपयोगिता

वर्तमान युग में एकाङ्की नाटकों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। थोड़े समय में जनता का मनोरञ्जन कराना एकाङ्की नाटकों का उद्देश्य है।

एकाङ्की नाटकों में जीवन के विस्तृत भाग की अपेक्षा किसी एक ही भाग का चित्रण किया जाता है। प्राचीन भारत में भी एकाङ्की नाटकों का प्रचार था। प्राचीन रूपकों में भाण, अंक तथा वीथी उपरूपकों में गोष्टी तथा नाटक रसक एक ही अंक के होते थे। यह सब शास्त्रीय नियमों में जकड़े हुए होते थे। आज के एकाङ्की नाटक पश्चिम की देन हैं।

बड़े नाटकों और एकाङ्की नाटकों में अन्तर

एकाङ्की नाटकों में नाटकों की अपेक्षा यह विशेषता होती है कि इनमें आदि से अन्त तक एक ही घटना होती है, बड़े नाटकों में बहुत सी घटनाएँ होती हैं। उपन्यास तथा कहानी में जो अन्तर होता है वही बड़े नाटकों तथा एकाङ्की नाटकों में समझना चाहिये।

एकाङ्की नाटकों में कोई शब्द भरती का नहीं होता और न कोई पात्र केवल मनोरंजन के लिए सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ ही इसकी समस्त घटनाएं एक ही देशकाल में घटित होती है, बड़े नाटकों की तरह एकाङ्की नाटक का घटनाचक्र समय की लम्बी परिधि पर नहीं घूमता। विषय को स्पष्ट करने के लिए हम इस सम्बन्ध की एक तालिका नीचे देते हैं:—

बड़े नाटक	एकांकी नाटक
१—अनेक अंक	केवल एक अङ्क
२—जीवन की विविधता	जीवन की एक रूपता
३—कथा विस्तार	कथानक के अनावश्यक अंगों की अपेक्षा आवश्यक अंगों पर ही बल दिया जाता है।
४—कथानक की घटना विस्तार के कारण मन्द गति	कथानक में तीव्र प्रवाह लाने के घटना विस्तार की न्यूनता

एकाङ्की नाटकों में, होता तो एक अङ्क है पर उसमें अनेक दृश्यों का समावेश भी किया जा सकता है। आजकल बहुत से लेखक केवल एक ही दृश्य दिये जाने के पक्ष में हैं। साधारणतः लोगों का कथन है कि एक घटना के होने में जितना समय लगे उतने ही समय के अन्तर से इसका घटनाचक्र भी चलना चाहियें। एकाङ्की नाटकों की लोकप्रियता का एक कारण यह भी है कि उसमें बड़े नाटकों की अपेक्षा कम समय लगता है, बड़े नाटकों की अपेक्षा व्यय भी कम होता है, तथा पात्र भी अधिक नहीं होते। साथ ही कथा वस्तु के मार्मिक अङ्ग को लेकर ही इसकी सृष्टि की जाती है।

समालोचना

समालोचना शब्द का अर्थ तथा परिभाषा

आलोचना शब्द संस्कृत के "लुच" धातु से बना है। "लुच" का अर्थ देखना है। इसी धातु से लोचन शब्द भी बनता है। इसी प्रकार आलोचना के पर्य्याय में आने वाले समीक्षा शब्द का भी यही अर्थ है।

अतः हम कह सकते हैं कि आलोचना का उद्देश्य है आलोच्य विषय को गहराई के साथ देखना तथा उसके गुण-दोषों को पृथक् करके दिखलाना। मैथ्यू आर्नल्ड ने समालोचना की इस प्रकार व्याख्या की है:—

"Criticism is a disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world."

संसार के सर्वोच्च ज्ञान एवं विचार के जानने का निर्लिप्त प्रयत्न ही समालोचना है।

आलोच्य विषय का गहराई के साथ अध्ययन तथा उसके गुण दोषों की न्यायपूर्वक की गयी परख को आलोचना कहा जा सकता है।

यदि आलोच्य विषय का केवल अध्ययन ही किया गया तथा उसके गुण दोषों की गहराई के साथ छानबीन न की गयी तथा यह न बताया गया कि वह वास्तव में है क्या तो हम उसे आलोचना न कहकर केवल समावलोकन (Review) कहेंगे।

किसी रचना के गुण तथा दोषों की विवेचना करना ही समालोचना कहलाता है। समालोचना का उद्देश्य गुण तथा दोषों को पृथक्-पृथक् करके दिखलाना है। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि किसी की गुण-गाथा का गान करना ही समालोचना नहीं है और न दोषों के दिग्दर्शन कराने को ही समालोचना कहते हैं। वास्तव में समालोचक की स्थिति उस गोताखोर के समान है जो समुद्र की तह में गोता लगाकर मणिमाणिक्य निकालने का प्रयत्न करता है। यह जग जाहिर है कि किसी भी गोताखोर के हाथों में हमेशा मणि-माणिक्य नहीं आते, मणिमाणिक्य के साथ-साथ कंकर, पत्थर, शंख और सीपियां भी निकल आती हैं। जिस प्रकार गोताखोर कंकर पत्थरों में से मणिमाणिक्य को चुन-चुनकर अलग कर लेता है, उसी प्रकार आलोचक भी किसी रचना के गुण तथा दोषों के विश्लेषण द्वारा उन्हें पृथक्-पृथक् करके दिखलाता है। समालोचक उस नीर-क्षीर-विवेकी परमहंस के समान है, जिसके सम्बन्ध में गोस्वामी जी की यह सूक्ति उचित जान पड़ती है।—

"जड़ चेतन गुण दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार"॥

वास्तव में संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो गुणदोषमय न हो, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें केवल

समालोचना करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है

दोष ही हों और कोई वस्तु ऐसी भी नहीं है जिसमें केवल गुण हों। अतएव समालोचक का कर्तव्य यह है कि वह गुण तथा दोष दोनों को ही पृथक्-पृथक् करके दिखलाये। ऐसा न करने से वह अपने आदर्श से गिर जाता है। यदि वह केवल आलोच्य विषय के गुणों को ही दिखलायेगा तो उसमें तथा किसी राजा-महाराजा की गुणावली का गान करके अपना पेट पालने वाले चारणों में कोई भेद नहीं रह जायगा, और यदि वह किसी के दोषों को ही दिखलाने में लगा रहेगा तो दुराग्रही समझा जायेगा।

आलोचना उतनी ही पुरानी है जितना यह संसार। प्रत्येक वस्तु को परखने अथवा उसके गुण-दोषों का पृथक-पृथक् विश्लेषण करने की प्रवृत्ति मनुष्यमात्र में होती है। हम बाजार में साधारण घड़ा तक ठोक-बजाकर खरीदते हैं। किसी भी काम को करने से पूर्व उसके भले-बुरे परिणाम को पहले सोच लेते हैं। हमारी यह स्वार्थमयी भावना ही आलोचना की मूल है।

आलोचक की स्थिति एक न्यायाधीश के समान है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के सम्बन्ध में पूरी जाँच-पड़ताल करके अपना निर्णय देता है। उसी प्रकार समालोचक भी निरंकुश लेखकों को सीधे मार्ग पर लाने के लिए उनके गुण तथा दोषों की जांच करके, उनकी रचनाओं का वास्तविक मूल्य निर्धारित करता है।

समालोचक और उसके कर्तव्य

जिस प्रकार न्यायाधीश के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक है, उसी प्रकार आलोचक के लिए पक्षपातरहित होना आवश्यक है। यदि वह निष्पक्ष होगा तो सत्यासत्य का निर्णय ठीक कर सकेगा।

ऐसी अवस्था में जबकि आलोचक न्यायाधीश के समान है उसमें न्यायपरायणता, सहृदयता तथा सुरुचि का होना आवश्यक है। यदि आलोचक में सहृदयता न होगी तो वह कभी आलोच्य विषय में गुण-दोषों की परख ईमानदारी के साथ नहीं कर सकेगा। यदि वह न्यायपरायण न होगा तो सत्यासत्य का निर्णय ठीक न कर सकेगा। यदि उसमें सुरुचि न होगी तो उसे आलोच्य विषय में दोषों के अतिरिक्त कुछ दिखाई न देगा, दूसरों के गुण उसे दोष ही दिखायी देंगे। इन बातों के साथ ही साथ समालोचक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह आलोचना करने से पूर्व उस विषय का खूब अध्ययन कर ले, जिस पर वह अपने विचार प्रकट करना चाहता है। उड़ती नजर से किसी विषय पर विचार करना ठीक नहीं; उसकी दृष्टि ऐसी पैनी होनी चाहिए कि वह विषय के भीतर घुसती चली जाय। उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि आलोच्य विषय का निर्माण किस समय, कहां और किन किन परिस्थितियों में हुआ, क्योंकि कोई भी लेखक ऐसा नहीं है जो देशकाल और परिस्थिति के प्रभाव से अपने को बचा सके।

जब कवि अथवा लेखक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने लगते हैं, तब समालोचक उन्हें निश्चित सीमा में रखने के लिए समालोचना रूपी राजदण्ड को अपने हाथों में ग्रहण करता है।

समालोचना उस प्रकाशस्तम्भ के समान है जो अपने दिव्य-लोक से अन्धकार में पड़ी हुई समस्त वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर देता है। उन रहस्यों को जिन्हें हम कठिनता से समझते हैं, वह इस तरह आलोकित कर देता है कि वह फिर हमारे लिए रहस्य नहीं रह जाते। दुर्बोध से दुर्बोध विषय को समालोचक हमारे लिए सुगम बनाकर रख

देता है। इसीलिए कहा गया है कि उत्तम समालोचक वही है जो समालोच्य विषय के गुण तथा दोषों पर इस प्रकार प्रकाश डाले कि वह सबके सामने प्रत्यक्ष हो जाय।

आलोचना करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। यह गुण उसके बौद्धिक विकास के साथ बढ़ता जाता है। इसीलिए सफल आलोचक वही हो सकता है जिसका बौद्धिक स्तर ऊँचा हो।

आलोचक का कार्य कुछ लोगों ने छिद्रान्वेषण ही समझ रखा है, पर ऐसी बात नहीं है। जो व्यक्ति पर-छिद्र ही देखता है वह आलोचक बनने का अधिकारी नहीं। सच्चा आलोचक वही है जो न्यायतुला पर पराये गुण तथा दोषों को तोल कर आलोच्य वस्तु का वास्तविक मूल्य निर्धारित करता है।

समालोचक का ज्ञान चौमुखा होना चाहिए। यदि उसका ज्ञान चौमुखा न होगा तो वह किसी भी विषय की समीक्षा सुचारु-रूप से नहीं कर सकेगा। जिस विषय पर वह अपने विचार प्रकट करना चाहता है उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों का भी अध्ययन उसके लिए आवश्यक है। संस्कृत के विद्वान् ने यह बतलाते हुए काव्य सम्बन्ध संसार भर के समस्त ज्ञान से है, कवि के सम्बन्ध में कहा है:—

"न सशब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांग महो भारो महान् कवेः ॥"

अर्थात् न कोई ऐसा शब्द है, न कोई ऐसी बात है और न कोई ऐसी कला है जो काव्य का अंग नहीं बन जाती। जब कवि पर इतना गुरुतर भार है तब आलोचक का तो कहना ही क्या है। वह तो काव्य के भी गुण-दोषों की समीक्षा करता है। इसलिए सौन्दर्य-

शास्त्र, मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता होना उसके लिए परमावश्यक है। जब तक वह सौन्दर्य शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता न होगा, तब तक वह किसी भी विषय के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि इसमें सुन्दरता का अंश कितना है? किसी की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर हम यह बतला सकते हैं कि अमुक कलाकार अपने मनोगत भावों को दृश्य-जगत् में लाने में सफल हुआ या नहीं। यदि काव्य जीवन की व्याख्या है तो उसे उस व्याख्या में कहां तक सफलता मिली? ऐसी अवस्था में मनोविज्ञान के ज्ञाता हुए बिना उसके लिए यह सब कार्य कठिन है। हम पहले कह चुके हैं कि समालोचना का उद्देश्य गुण तथा दोषों का विश्लेषण करना है। यह कार्य आलोच्य विषय को बिना तर्क की कसौटी पर कसे नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में नीरक्षीर विवेकी आलोचक के लिए तार्किक होना परमावश्यक है। आलोचना सभी विषय-विषयों की हो सकती है। यहाँ तक कि आलोचना की भी आलोचना हो सकती है, जिसे हम प्रत्यालोचना कह सकते हैं। यदि समालोचक तार्किक न होगा तो वह बे सिर पैर बकेगा और उसे सदा अपने विरोधियों से मुँह की खानी पड़ेगी।

क्रोधादि मनोवेगों के वशीभूत होकर अथवा शत्रुता की भावना से किसी की आलोचना नहीं करनी चाहिये क्योंकि आलोचना का उद्देश्य सत्य का निर्णय करना है और सत्य का निर्णय बिना पक्षपात रहित हुए नहीं किया जा सकता। क्रोध, ईर्ष्या और शत्रुता की भावना न रखने वाला व्यक्ति किसी भी दशा में पक्षपाती नहीं हो सकता।

किसी विद्वान् का यह कथन है कि "आलोचना" हृदयपक्ष पर बुद्धिपक्ष की विजय है, ठीक ही जान पड़ता है। जैसे-जैसे बुद्धिपक्ष

बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मनुष्य का स्वभाव भी आलोचना की ओर बढ़ता चला जाता है। इसीलिए जहां विज्ञान कविता के लिए घातक है वहां आलोचना के लिए हितकर भी है।

आज समालोचना आवश्यक है

प्राचीन काल में आलोचना की इतनी आवश्यकता भी नहीं थी जितनी आज है क्योंकि प्राचीन काल में इतने ग्रन्थ नहीं लिखे जाते थे जितने आज। इसलिए प्राचीन काल में जनता को समालोचना की आवश्यकता नहीं थी। प्राचीन समय में अधिकारी विद्वान् ही किसी विषय पर कलम की करामात दिखाते थे। किन्तु आज तो प्रेस की कृपा से सभी व्यक्ति चाहे वे किसी विषय के ज्ञाता हों चाहे न हों, नाम और दाम के लोभ में पड़कर अखाड़े में उतर ही आते हैं। आजकल लेखकों और कवियों की बाढ़ आ रही है। इसीलिए ऐसे बरसाती जन्तुओं की उपज रोकने के लिए समालोचक का मैदान में आना नितान्त आवश्यक है। प्राचीन काल में हमारे सामने यह समस्या थी कि क्या पढ़ें? आज यह है कि क्या न पढ़ें? एक विषय पर असंख्य ग्रन्थ लिखे हुए मिलते हैं। उनमे से तो कितने ही अधिकारी लोगों के लिखे हुए होते हैं और कितने ही अनधिकारी तथा अधकचरे लेखकों के। इस विशालग्रन्थ राशि में से अपने योग्य अच्छे ग्रन्थों को चुनना हम जैसे कामकाजी मनुष्यों के लिए कठिन है। आलोचक हमें इस कार्य में बहुत सहायता देता है। वह हमें बतलाता है कि इस विशाल ग्रन्थराशि में कौनसी पुस्तक उपयोगी है और कौनसी नहीं, किस पुस्तक के किस अंश को पढ़ना चाहिये और किसे छोड़ना चाहिये। हमारे यहां जिस प्रकार लेखकों और कवियों की बाढ़ आ रही है, उसी प्रकार स्वयं आलोचक भी कीट पतंगों की तरह पैदा हो रहे हैं। यूरोप में प्रत्येक विषय के अलग-अलग समालोचक हैं। वे अपने-अपने

विषय के पूर्ण विद्वान होते हैं, इसीलिए उनकी सम्मति अधिक मूल्यवान होती है। हमारे यहां प्रत्येक विषय पर एक ही आदमी राय दे देता है, चाहे वह उस विषय का ज्ञाता हो या न हो। वास्तव में यह बहुत बड़ी कमी है। बहुत से समालोचक पक्षपातवश अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की बुरी से बुरी रचना को साहित्य-संसार की उत्तम-विभूति बतला देते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति से अपना मनमुटाव निकालने के लिए उसके गुणों पर भी मिट्टी डाल देते हैं। इससे दो हानियां होती हैं। एक तो, यह कि समालोचक के कथन को वेदवाक्य समझने वाली भोली-भाली जनता एक अच्छे ग्रन्थ से लाभान्वित होने से वंचित रह जाती है? दूसरे, यह कि दूषित रचनाओं का प्रचार बढ़ जाता है।

अपनी दोषयुक्त रचना भी सबको अच्छी लगती है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है:—

"निज कविता केहि लाग न नीका।
सरस होइ अथवा अति फीका॥"

ऐसी दशा में अपनी रचना का वास्तविक मूल्य भी हमें तभी मालूम होता है जब संसार उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है।

आलोचना एक जांच है जो खोटे-खरे का निर्णय करती है। जिस प्रकार आग में पड़कर ही स्वर्ण की परीक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार किसी विषय के गुण-दोषों की परख आलोचनारूपी कसौटी पर कसने से होती है। साहित्य-निर्माण में इसीलिये आलोचना का बहुत बड़ा स्थान है।

किसी अधिकारी विद्वान् की आलोचना ही साहित्य-निर्माण में योग देती है। अयोग्य तथा अनधिकारी विद्वानों की आलोचना कोई

महत्व नहीं रखती। वह तो कवियों तथा कलाकारों के हृदय को पीड़ा पहुंचाने वाली होती है। इस सम्बन्ध में किसी ने ठीक ही कहा है:—

"कलाकार के हृदय को, सालत है सो कौन ?
मूरख केर सराहिवो, समझ वार को मौन ।।"

समालोचना के प्रकार

अलोचना विज्ञान भी है और कला भी। आलोचना के सैद्धान्तिक रूप को अर्थात् उस शास्त्रीय विवेचना को जिसमें आलोचना करने की रीति का वर्णन हो विज्ञान कहेंगे। उस रीति अथवा पद्धति के आधार पर की गया आलोचना कला कहलाती है। यह ठीक है कि कला के पीछे शास्त्र का निर्माण होता है। फिर भी एक सफल आलोचक के लिए आवश्यक है कि वह आलोचक के सम्मानित पद को प्राप्त करने से पूर्व आलोचना शास्त्र का गम्भीर अध्ययन करले, भले ही उनमें बीज रूप से आलोचना करने की शक्ति विद्यमान हो क्योंकि आलोच्य विषय के गुण तथा दोष दोनों ही का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना पड़ता है। काव्य निर्माण की अपेक्षा काव्य की आलोचना कठिन है क्योंकि कवि का काम काव्य शास्त्र का अवलोकन किये बिना भी चल सकता है। पर समालोचक का कार्य इसके बिना नहीं चल सकता। अतः आलोचना करने की रीति के अध्ययन के साथ, उसे आलोच्य विषय के सम्बन्ध में पूरी जानकारी होना भी नितान्त आवश्यक है।

आलोचनाएं हमें तीन रूपों में मिलती हैं:—

(१) विश्लेषण के रूप में :—आलोच्य विषय के गुण-दोषों को अलग-अलग करके दिखलाना।

(२) स्पष्टीकरण के रूप में :—आलोच्य विषय को अधिक स्पष्ट तथा बोधगम्य बनाने के लिए उसकी व्याख्या करना।

(३) निर्णय के रूप में :—आलोच्य विषय के विविध अङ्गों की समीक्षा करते हुए साहित्य में उसका स्थान निर्धारित करना।

किसी विषय पर की गई आलोचना को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) आलोच्य विषय का संक्षिप्त परिचय।

(ख) आलोच्य विषय की व्याख्या तथा गुण-दोष-विवेचन।

(ग) आलोचना का निष्कर्ष तथा अन्तिम निर्णय जो पाठकों पर ही छोड़ दिया जाता है।

सफल आलोचक को इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) आलोच्य विषय के गुण दोषों का न्यायपूर्वक विश्लेषण करना।

(२) रचना-शैली पर प्रकाश डालना।

(३) आलोच्य विषय में भाव-पक्ष की प्रधानता है अथवा कला-पक्ष की, इस पर प्रकाश डालना।

(४) भाषा तथा उन विचारों पर प्रकाश डालना, जिन तक सर्वसाधारण की पहुंच नहीं है।

(५) "कलाकार समय का प्रतिनिधि होता है", इस सिद्धान्त को सामने रखकर, यह बतलाना कि आलोच्य विषय पर क्या प्रभाव पड़ा।

(६) पूर्ववर्तीय तथा समकालीन कलाकारों का आलोच्य विषय पर क्या प्रभाव पड़ा ?

(७) आलोच्य विषय में अगली पीढ़ी के कलाकारों को प्रभावित करने की क्षमता कितनी मात्रा में है ?

(८) उसमें उपयोगी अंश कितना है ?

(९) जीर्ण का नाश और नवीन का निर्माण करने वाले युग संघर्ष से अपने आपको बचा सकने की क्षमता आचोच्य विषय में है।

(१०) क्या आलोच्य विषय सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की रक्षा करने में सफल हो सका है ?

आलोचना के कई भेद किए जा सकते हैं। इन भेदों में मुख्य भेदों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है:—

(१ निर्णयात्मक समालोचना—इसमें साहित्य शास्त्र की बँधी हुई परम्परा के अनुसार काव्य के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला जाता है ; जैसे,

"बसत तरङ्गिनि में तीर ही तरल आय,
ग्रस्यो ग्राह पाँव, खैंचे पानी बीच तरज्यो।
करनी कलभ करैं कलापना कूल ठाढ़े,
कहा भज्यो कहा, करुना के संग लरज्यो॥
कठिन समय विचारि स हव सो गयो हारि,
हटि पग ध्यान रघुनाथ ज्यों ही सरज्यो।
असरन सरन विरद की परज देख्यो,
पहले मरज भई, पीछे गज गरज्यो"॥

अलंकार—कुल छन्द में मुख्य अलङ्कार चञ्चलातिशयोक्ति है। जिस प्रकार से सत्कवि के काव्य में बिना उद्योग के भी और बहुत से अलंकार आ जाते हैं वही बात मतिराम के इस छन्द में हुई है।

गुण— प्रसाद गुण मुख्य है। परन्तु कहीं-कहीं (जैसे द्वितीय पद में) ओज गुण के भी सूचक पद हैं।

वृत्ति— उपर्युक्त पद्य में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढ़ावृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रस— इस छन्द में पराये दुःख को दूर करने का जो उत्साह है वह स्थायी भाव है। इसका आलम्बन विभाव दुखार्त गजराज है। गजराज की दीनताभरी पुकार उद्दीपन विभाव है। ······स्थायी भाव उत्साह है। ·········इसीलिए यह वीररस का दयावीर रस नामक रूपान्तर है।

काव्य—कुल छन्द में वाच्य की तरह जो अर्थ लिया है वही प्रधान होने से यह लक्षणामूलक मध्यम काव्य है।

(मतिराम ग्रन्थावली—कृष्णविहारी मिश्र)

व्याख्यात्मक आलोचना— इस प्रकार की आलोचना में आलोचक, कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके गूढ़, गहन तथा गम्भीर भावों की विशद व्याख्या करके उन्हें पाठकों को हृदयङ्गम कराने में सहायक होता है। उदाहरण—

"चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन में संगठित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है। भायप-भक्ति से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं—

"रामबास स्थल विरम बिलोके, उर अनुराग रहत नहिं रोके।"

मार्ग में पूछते जाते हैं कि "राम किस वन में हैं ?" जो कहता है "हम उन्हें सकुशल देख आये है", वह उन्हें राम-लक्ष्मण की ही भाँति प्यारे लगते हैं। प्रिय सम्बन्धी आनन्द के अनुभव की आशा देने वाला एक प्रकार से उस आनन्द को जगाने वाला है, उद्दीपन है।

तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल।

ऐतिहासिक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना में बताया जाता है कि कवि पर अपने समय की परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा ? तथा वह समय की गति-विधि के साथ चलने में कहाँ तक समर्थ हुआ ?

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय मे गौरव, अभिमान और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने उनके देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था, और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में वे अपनी वीरता के गीत न तो गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए ही सुन सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग क्या था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए भक्ति का एक नया मैदान खोदने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रभाव ऐसा विस्तृत होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आगये ?"

—रामचन्द्र शुक्ल।

प्रभावात्मक आलोचना—इसमें कवि आलोच्य विषय से प्रभावित होकर अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव को प्रधानता देता है। इसमें आलोचक, विचारक न रह कर भावना के क्षेत्र में रमने वाला ही रह जाता है, जैसेः—

यदि, "सूर-सूर, तुलसी शशि, उडुगन केशव दास" हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिनके उदय होते ही सब का प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि कोकिल कुहकने, मन-मयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।

(श्री राधाचरण गोस्वामी)

मनोवैज्ञानिक आलोचना—इसमें मनोविज्ञान की विशेष प्रधानता रहती है। इसमें कवि अथवा कलाकार की आन्तरिक भावनाओं का विश्लेषण किया जाता है।

"तुलसीदास ने मानव हृदय की सूक्ष्म प्रवृतियों का कितना अधिक अन्वेषण किया था और वे उनका प्रकाशन कितनी कुशलता से कर सकते थे, यह उनके मानस के विद्यार्थी जानते हैं। रसों के अन्तर्गत सञ्चारी भाव के भेदों के अन्तर्गत हृदय की न जाने कितनी भावनायें भरी हुई हैं। मानवी संसार की विभिन्न परिस्थितियों की मनोदशा का अधिकार-पूर्ण ज्ञान तुलसीदास के कवित्व की सबसे बड़ी व्याख्या है। (डा० रामकुमार वर्मा)

तुलनात्मक समालोचना—जहां किसी रचना की आलोचना तुलनात्मक ढंग से की जाय।

"हिन्दी कविता का प्रेमी मात्र जानता है कि उनका ब्रज और अवधी दोनो भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो

माधुर्य हम सूर-सागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृतरूप में हम गीतावली और कृष्ण गीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पद्मावत में मिलती है वही जानकी मंगल, पार्वती मंगल, बरवे रामायण और रामलला-नहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।"

(रामचन्द्र शुक्ल)

इसी प्रकार समालोचना के और भी बहुत से भेद हो सकते हैं, पर विस्तार-भय से हम उन सबको यहाँ देने में असमर्थ हैं।

समालोचकों के प्रकार

जिस प्रकार आलोचना के कई भेद किये जा सकते हैं उसी प्रकार आलोचकों के भी कई भेद किये जा सकते हैं। इन भेदों में मुख्य यह हैं :—

(१) *जलौका वृति के आलोचक*—जिस प्रकार जोंक किसी के सुन्दर शरीर में से केवल सड़ा हुआ तथा दूषित रक्त ही चूसती है, इसी प्रकार ऐसे आलोचक आलोच्य विषय के केवल दोष ही ग्रहण करते हैं।

(२) *मधुमक्षिका वृति के आलोचक*—जिस प्रकार मधुमक्षिका दूसरों के लिए बहुत से फूलों का विशुद्ध रस एकत्र करके मधुकोष का निर्माण करती है, इसी प्रकार ऐसे आलोचक दूसरों के लिए आलोच्य विषय के उपयोगी अंशों को चुनकर अध्ययन की प्रेरणा देते हैं।

(३) *तोताचश्म आलोचक*—मुख पर तो प्रशंसा करते हैं और पीठ पीछे निन्दा।

(४) *हंसवृति के आलोचक*—जो नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान आलोच्य विषय के गुण-दोषों का विश्लेषण करते हैं।

रचना और शैली

प्रत्येक रचना को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। (१) भावपक्ष (२) कलापक्ष। भावपक्ष से अभिप्राय उन विचारों से

कलापक्ष

हैं जिन्हें कोई लेखक अथवा कलाकार दूसरों के सामने रखना चाहता है। कलापक्ष से अभिप्राय उन विचारों को सुन्दरता पूर्वक रखने से है। इसी का दूसरा नाम शैली है। साधारण रीति से हम भाषा शैली के निम्नोक्त पाँच भेद कर सकते हैं:—

(१) सरल शैली (२) शृंखलामूलक शैली (३) उक्ति-प्रधान शैली (४) अलंकृत शैली (५) गूढ़शैली।

इस प्रकार की शैली में वाक्यविन्यास की सरलता के साथ-साथ प्रसाद गुण का होना भी आवश्यक है। अर्थात् इस शैली में

सरल शैली

सरल वाक्यों द्वारा भावों को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि भावों द्वारा सुगमता से समझ में आ सके। सरल वाक्य शैली में उस बात को जिस पर हम जोर डालना चाहते हैं वाक्य के अन्त में रखा जाता है। जैसे:— सफलता की कुंजी है स्वावलम्बन। यदि इस वाक्य को इस प्रकार कहा जाय कि स्वावलम्बन सफलता की कुंजी है तो इस वाक्य का वह प्रभाव जो उपर्युक्त वाक्य में है नष्ट हो जायगा। छोटे-छोटे वाक्यों में सीधे सादे शब्दों द्वारा

मनोगत भावों को व्यक्त करना ही इस शैली की विशेषता है। नीचे इस शैली का उदाहरण पर्याप्त होगा:—

"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मन: प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मन: प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दोहराता है— यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है।"

—भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा)

शृंखला-मूलशैली

इस प्रकार की रचना में छोटे-छोटे उपवाक्य शृंखला की कड़ियों की तरह जुड़ कर एक पूरे वाक्य की रचना करते हैं। इस प्रकार के वाक्य की यह विशेषता होती है, कि जब तक अंतिम वाक्य को न पढ़ लिया जाय तब तक लेखक का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसका एक उदाहरण लीजिये :—

"मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोली का किस प्रकार विकास होता है, उसकी बोली और भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द किन-किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों? समय पाकर किसी भाषा का रूप और का और हो जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित तथा विकसित होकर पूर्ण तथा स्वतन्त्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है—इन विषयों तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले और सब उप विषयों का भाषा विज्ञान में समावेश होता है।"

—डा० श्यामसुन्दर दास (भाषा विज्ञान)

इसी का एक दूसरा उदाहरण भी लीजिये:—

"चाहे सूर्य ठण्डा हो जाय, चन्द्रमा से अंगारे बरसने लगें, पर जो व्रत आज हमने लिया है उससे हम विचलित नहीं होंगे।"

उक्ति प्रधान शैली

इस प्रकार की शैली में लेखक लोकोक्तियाँ और मुहाविरों की सहायता से भाषा में एक प्रकार की लाक्षणिकता तथा व्यंजकता लाकर अपनी छोटी-छोटी उक्तियों द्वारा पाठक के हृदय में प्रविष्ट होना चाहता है। इस शैली का एक उदाहरण लीजिये:—

"आप कहते हैं कि तुम मदिरा पीते हो लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं लेकिन आप गो मांस खाने वालों के सामने नाक रगड़ते हैं, इसीलिए न कि वे आपसे बलवान हैं। हम भी आज राजा हो जाँय तो आप हमारे सामने हाथ बांधे खड़े होंगे।"

—प्रेमचन्द

उक्ति प्रधान शैली का दूसरा रूप सुभाषितशैली भी है। इस प्रकार की शैली में लेखक सूक्तियों के प्रयोग द्वारा विषय को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न करता है। जैसे:—

"चिता और चिन्ता में कोई अन्तर नहीं।" चिन्ता मनुष्य को तिल-तिल करके जलाती है। किसी ने ठीक ही कहा है:—

"चिता चिन्ता समाख्याता बिन्दु मात्र बिशेषता।"

जिस गुण अथवा कौशल से विचारों को सुन्दरता पूर्वक दूसरों के समक्ष रखा जाता है उसे अलंकार कहते हैं। प्रतिभाशाली कवि

अलंकृतशैली

अथवा लेखक की रचना में स्वभावतः जो एक प्रकार का सौंदर्य आ जाता है उसे अलंकार कहते हैं। यह सुन्दरता

किसी रचना में दो प्रकार से उत्पन्न की जा सकती है। एक शब्द द्वारा और दूसरी अर्थ द्वारा। शब्द द्वारा उत्पन्न की गई सुन्दरता में शब्दों को बदल देने पर सारा सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। जैसे चाँद की चटकीली चांदनी चारों ओर बिखरी हुई थी। इस वाक्य को यदि यों न कह कर यों कहें कि "सुधाकर की शुभ्रज्योत्सना सर्वत्र बिखरी हुई थी" तो समस्त सौन्दर्य नष्ट हो जायगा, प्रथम वाक्य में चकार के बार-बार आने से जो सुन्दरता उत्पन्न हुई, वह दूसरे वाक्य में नहीं है।

इसी प्रकार जिस वाक्य में अर्थ द्वारा चमत्कार उत्पन्न होता है यदि उसे न कहकर उसका भाव ही कहा जाय तो सारा मजा ही किर-किरा हो जायगा जैसे कोई कहे आपतो दूसरे बृहस्पति हैं। इस वाक्य को यदि यो न कह कर, आप विद्वान हैं कहा जाय तो वाक्य की सारी शोभा ही नष्ट हो जायगी।

अलंकारों का प्रयोग भाषा में जान डाल देता है। हम साधारण वार्तालाप में भी अलंकारों का प्रयोग करके एक प्रकार का चमत्कार ला देते हैं। जैसे किसी ने कहाः—"अखबार पढ़ते-पढ़ते मेरी आँख लग गयी।" दूसरे ने उत्तर दियाः- "क्या बुढ़ापे में भी आपकी आँख लगती है।" उपर्युक्त प्रश्नोतर में वक्रोक्ति का जो चमत्कार है वह किसे मुग्ध नहीं करता?

अलंकार, कुशल कवियों की रचना में आप से आप आ जाते है :—

"मसिकागद छुओ नहि, कलम गहो नहि हाथ।"

कहने वाला कबीर काव्य शास्त्र का पण्डित न होते हुए भी जो कुछ कह गया वह अधिकांश उत्तम अलंकारों से विभूषित हैं।

अलंकारों की विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं:—

अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कह कर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार अन्तर्गत केवल भाव, गुण, रूप या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार सामग्री की विलक्षणता भी आती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चन्द्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानों ऊँट की पीठ पर घंटा रखा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार सामग्री की विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर ही वाह-वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चन्द्रमा को देख कर स्वभावतः सौन्दर्य की भावना उठती है; पर ऊंट पर रखा हुआ घण्टा कोई ऐसा सुन्दर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौन्दर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।"

श्री सेठ अर्जुनदास केडिया ने अपना अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ "भारती-भूषण" को जब आचार्य द्विवेदी जी के पास समत्यर्थ भेजा था तब उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया था कि "अब केवल पुराने अलंकारों की लीक पीटने से काम नहीं चलेगा। भारती के वे आभूषण बहुत पुराने हो गये हैं, नये ढंग के आभूषण चाहियें। प्राचीन काल के आभूषण आजकल की स्त्रियों को पसन्द नहीं, बिहार की स्त्रियों को मारवाड़ के जेवर अच्छे नहीं लगते। काव्य में भी इस रुचि को आश्रय मिलना चाहिये।"

अतः हम कह सकते हैं कि:—अलंकारों का निर्माण समय-समय पर लोक रुचि के अनुसार होता रहा है। कोई कोई आचार्य प्राचीन अलंकारों में परिष्कार करके उन्हें नयी रुचि के अनुसार बनाने में समर्थ हुए हैं। ऐसी दशा में यह मानना पड़ेगा कि अलंकारों की संख्या देशकालानुसार घटती बढ़ती है।

गूढ़ शैली गूढ़ शैली से अभिप्राय उस शैली से है जिसमें लाक्षणिक और व्यंजक शब्द शक्तियों के कारण उक्ति के सामान्य अर्थ के भीतर कोई प्रयोजनीय अर्थ छिपा हो।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु देशकालानुसार अर्थ विशेष का ही ग्रहण किया जाता है। कण्टकारी शब्द के अर्थ जूता और श्वेत कटहली होते हैं। यदि कोई वैद्य अपने रोगी को किसी नुसखे में कण्टकारी का सेवन करने के लिए लिखे तो क्या वहाँ भी कण्टकारी शब्द का अर्थ जूता किया जायगा? इसी प्रकार सैंधव शब्द का अर्थ है घोड़ा और नमक। यदि कोई भोजन करते समय "सैंधव लाओ" कहे तो सैंधव शब्द का अर्थ नमक ही किया जायगा, घोड़ा नहीं।

प्राचीन आचार्यों ने उस शक्ति को जिसके द्वारा हम शब्द के विशेष अर्थ ही ग्रहण करते हैं तीन भागों में विभक्त किया है, जिनके नाम हैं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीन शब्द शक्तियों या वृत्तियों के सहारे अभिव्यंजन भी तीन प्रकार के वाचक, लक्षक और व्यंजक माने गये हैं।

अभिधा शक्ति द्वारा सदा सीधे सादे अर्थ का बोध होता है। जब वक्ता को जो कुछ कहना होता है उसे बिना घुमाव फिराव के

कह डालता है तब अभिधा शक्ति का सहारा लेता है। जिन शब्दों द्वारा अभिधायार्थ का बोध होता है वे वाच्य कहलाते हैं।

जब वाक्य का सीधा सादा अर्थ न लेकर उसी से सम्बन्धित कोई अन्य अर्थ लिया जाता है वहां लक्षणा मानी जाती है—' जैसे "तू वह काला साँप है जिसके काटे का कोई इलाज नहीं"। यहाँ साँप शब्द का अर्थ साँप न करके दुष्ट मनुष्य किया जायगा। उपर्युक्त वाक्य में सांप का वाक्यार्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ ही लिया गया है। यदि इस वाक्य में साँप का अर्थ साँप ही किया जाय तो उसकी संगति प्रसंग में ठीक नहीं बैठेगी।

जहाँ व्यंजना के सहारे वाक्य का सर्वथा अन्य अर्थ लिया जाता है वहाँ व्यंजना वृत्ति होती है; जैसे "सूर्यास्त हो गया" इस वाक्य का अर्थ श्रोतागण अपनी अपनी स्थिति के अनुसार करेंगे। मन्दिर का पुजारी समझेगा पूजा का समय हो गया, अब मन्दिर की आरती की तैयारी करनी चाहिये, सिनेमा प्रेमी सोचेगा की जल्दी सिनेमा गृह चलना चाहिये अन्यथा टिकट नहीं मिलेगा। घर की स्त्रियाँ समझेंगी अब भोजन बनाने का समय हो गया। इस प्रकार का अर्थ व्यंग्यार्थ या व्यंजना शक्ति द्वारा किया गया है।

गूढ़ शैली में कोई बात सीधे सादे शब्दों में न कह कर घुमा फिरा कर लाक्षणिकता तथा व्यंग्यार्थ का सहारा लेकर कही जाती है यही इस शैली की विशेषता है।

शैली के गुण शैली का प्रधान गुण है, रस तथा भावों के अनुकूल शब्दों द्वारा एक विशेष वातावरण तथा स्थिति का चित्र उपस्थित करना। आर्य-आचार्यों के मतानुसार शैली के वास्तविक गुण हैं, ओज, माधुर्य तथा प्रसाद।

ओज — ओज गुण से अभिप्राय शैथिल्य रहित तथा उत्साह वर्द्धक रचना से होता है। इसमें उग्रता तथा परुषता व्यंजक शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है। उदाहरणार्थ देखिये:—

"हिमाद्री तुँग शृँग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयँप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—

"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो बढे चलो।"

असँख्य कीर्ति रश्मियां,
विकीर्ण दिव्य दाह सी।
सपूत मातृ भूमि के,
रुको न शूर साहसी।

अराति सैन्य सिन्धु में, सुवाडवाग्नि से चलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढे चलो बढे चलो।

—जयशंकर प्रसाद

शैली का दूसरा गुण है माधुर्य्य। जब हम कोमल तथा स्निग्ध भावों का अभिव्यंजन कराते हैं तब भाषा प्रवाह की तीव्रता

माधुर्य्य — कुछ मन्द करनी पड़ती है। वाक्य विन्यास में परुषता तथा उग्रता का प्रयोग भी कम किया जाता है। महादेवी की यह पंक्तियाँ इसकी उत्तम उदाहरण कही जा सकती हैं :-

"विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द"

प्रसाद शैली का तीसरा गुण है प्रसाद। प्रसाद गुण से अभिप्राय अर्थबोध कराने की शक्ति से है। अर्थात् लेखक के भावों को समझने में पाठक को बौद्धिक परिश्रम न करना पड़े। ऐसी रचना में अर्थ शून्य शब्दाडम्बर बिलकुल नहीं होता। इसका भी एक उदाहरण लीजियेः—

"रुदन में कितना उल्लास, कितनी शान्ति, कितना बल है। जो कभी एकान्त में बैठकर किसी की स्मृति में, किसी के वियोग में, सिसक-सिसक कर और विलख-विलख कर नहीं रोया, वह जीवन के ऐसे सुख से वंचित है, जिस पर सैकड़ों हँसियाँ न्योछावर हैं। उस मीठी वेदना का आनन्द उन्हीं से पूछो, जिन्होंने यह सौभाग्य प्राप्त किया है।

—प्रेमचन्द्र—ग़बन

शैली के दोष काव्य अथवा साहित्य में अपकर्ष लाने वाले अथवा उसके मूल्य को कम करने वाले कारण दोष कहलाते हैं। काव्य में दोष उत्पन्न करने वाले मुख्य कारणों के नाम ये हैंः—

श्रुति-कटुत्व, च्युत-संस्कृति, अश्लीलत्व, अप्रतीतत्व, ग्राम्य, क्लिष्टित्व, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, अक्रमत्व, पुनरुक्ति, दुष्क्रमत्व।

श्रुति-कटुत्व— ऐसी रचना, जो सुनते समय कानों को अप्रिय लगे। ऐसा 'ट' वर्ग आदि की अधुरता के कारण होता है। जैसे शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे। किन्तु वीर, भयानक, रौद्र तथा ओज गुण युक्त रचनाओं में यही दोष गुण हो जाता है।

च्युतसंस्कृति— जहां व्याकरण के नियमों की अवहेलना की गयी हो जैसे:—

"अरे अमरता के चमकीले पुतलो
निर्भय वे तेरे जयनाद।" --प्रसाद

अश्लीलत्व— ऐसी बात कहना जिसके कहने से लज्जा अथवा घृणा उत्पन्न हो। जैसेः—

"एक जगल की जड़ी मिली मुझे जीजी से —
जिसे खाकर गुड़ गोबर सा लगता है।" —मैथिलीशरण

अप्रतीतत्व— जहाँ किसी शास्त्रीय शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया हो जिससे उसके अर्थबोध में कठिनता पहुँचे। जैसेः—

"आशय भग ज्ञान सों करई"

ग्राम्यदोष— जहाँ गवाँरी, असंस्कृत भाषा का प्रयोग हो। जैसे:—

पत्थर पुजकों का झूठा झुण्ड खोय गया।
—नाथूराम शंकर

क्लिष्टित्व— ऐसी भाषा का प्रयोग करना जिसका अर्थ कठिनता से समझ में आये। जैसेः—

"वेद नखत गृह जोरि अरघ करि, सोइ बनत अब खात"
—सूरदास

न्यूनपदत्व:— जहां कवि का आशय समझने के लिए अपनी ओर से शब्द जोड़ने पड़ें। जैसे:—

"नाम पहरुवा दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट।।" —तुलसी

यहाँ अर्थ करते समय रूपक को स्पष्ट करने के लिए प्राण पर चोर का आरोप अपनी ओर से करना पड़ता है। अतः यहाँ न्यूनपदत्व दोष है।

अधिक पदत्व— जहां भरती के शब्द अधिक हों। अर्थात् ऐसे शब्दों का प्राचुर्य हो जिनके बिना भी काम चल सके। जैसे:—

"पावन पुष्प पराग से, सुरभित मलय समीर।"

यहां पुष्प शब्द व्यर्थ है क्योंकि पराग पुष्प में ही होता है।

अक्रमत्व— जहां कोई बात क्रम पूर्वक न कही जाय। जैसे:—

"सचिव वैद गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय त्रास।
राज धर्म तन तीन कर, अवसहिं होइ विनाश॥"—तुलसी

यहाँ सचिव, वैद्य तथा गुरु का भय के कारण प्रिय वचन बोलने से राज्य, धर्म तथा शरीर का नाश होना बताया गया है—परन्तु यहाँ इस प्रकार के कथन से क्रम टूटता है। उपर्युक्त दोहे में वैद्य सचिव के बाद आता है, अस्तु शरीर को दूसरा तथा धर्म को तीसरा स्थान देना चाहिये था।

पुनरुक्ति— जहां किसी बात को दुबारा अनावश्यक रूप से कहा जाय। जैसे:—

"सौरभ सुगन्ध सनी, सीतल समीर सदा।'

सौरभ और सुगन्ध शब्द के एक ही अर्थ होते हुए भी दो बार प्रयोग किया गया। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष है।

दुष्क्रमत्व— जहां प्रसिद्ध और स्वाभाविक क्रम के विरुद्ध बात कही जाय। जैसे:—

"कोई कोटिक संग्रहो, कोई लाख हजार।"—बिहारी

हजार के बाद लाख और लाख के बाद करोड़ आता है। यहाँ इस प्रसिद्ध क्रम के विरुद्ध बात कही गयी है। अतः यहां दुष्क्रमत्व दोष है।

शैली का-महत्व

शैली से व्यक्तित्व का बोध होता है। अर्थात् प्रत्येक लेखक की अपनी शैली अलग होती है। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष के स्वर को सुनकर यह बताया जा सकता है कि यह स्वर अमुक व्यक्ति का है, उसी प्रकार किसी लेखक की रचना-शैली द्वारा यह सुगमता से बताया जा सकता है कि यह रचना अमुक लेखक की है। ऐसा तो केवल शुक्ल जी ही लिख सकते हैं।

शैली का परिष्कार और परिमार्जन करने के लिए साहित्य शास्त्र का अध्ययन तो आवश्यक है ही, साथ ही सफल लेखकों की रचनाओं का पठन-पाठन भी आवश्यक है। कुशल कवियों और सफल लेखकों की रचनाओं के अध्ययन से उनकी विशेषताओं को अपनी रचना में लाकर उसका परिमार्जन किया जा सकता है।

समाप्त